

तद्दिव्यमव्ययं धाम सारस्वतमुपास्महे ।
यत्प्रसादात्प्रलीयन्ते मोहान्धतमसच्छटाः ॥

।। श्री धन्वन्तरयेनमः ।।

आयुर्वेदीय पदार्थ-विज्ञान

विषय प्रवेशनीय

अध्याय १

मंगलाचरण

यस्मिन् सत्यं यतः सत्यं शिवं यच्च शिवायनः ।
सौन्दर्यं तत्परं तेजो मुदिरं सम्प्रकाशताम् ।।

"महर्षयस्ते ददृशुर्यथावज्ज्ञान-चक्षुषा ।
सामान्यञ्च विशेषञ्च गुणान् द्रव्याणि कर्म च ।।
समवायञ्च तज्ज्ञात्वा तंत्रोक्तं विधिमास्थिताः ।
लेभिरे परमं शर्म जीवितञ्चाप्यनित्वरम् ।।"

—चरक सू० १।२८-२९

महर्षियों ने ज्ञान चक्षुओं से जिन सामान्यादि ६ पदार्थों को जान कर परम कल्याण और उनका यथार्थ रूपेण प्रयोग करके कभी भी हीन-दीन और क्षीण नहीं होने वाले जीवन को प्राप्त किया । उन्हीं की ग्रन्थ रचना और इनके नाम से इस ग्रन्थ का श्रीगणेश करना उपयुक्त समझा जिससे कि पाठकगण भी आनन्दमय दीर्घ जीवन को प्राप्त कर सकें ।

संसार में प्रत्येक प्राणी के लिये यही अन्वेषणीय (रीसर्च) विषय है कि, दीर्घ काल तक पूर्ण सुख के साथ कैसे जीवन प्राप्त कर सके । इसकी प्राप्ति यदि किसी व्यक्ति को यथार्थ रूपेण हो जाती है तो वह अपने को पूर्ण-तया कृतकृत्य मानता है ।

आयुर्वेद और इन पदार्थों का अवतरण क्रम भी परम माङ्गलिक, आरोग्यकर, उपादेय और इसी क्रम में ज्ञेय होने से यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है ।

अनादि काल से चले आ रहे इस (शाश्वतिक आयुर्वेद का ब्रह्मा ने स्मरण करके प्रजापति को, प्रजापति ने अश्विनी कुमारों को और उन्होंने इन्द्र को अध्ययन कराया)। इस प्रकार स्वर्ग लोक में आयुर्वेद का अवतरण और उसके प्रचार व प्रसार का इतिहास प्राप्त होता है ।

आयुर्वेदावतरण—तप, उपवास, अध्ययन, ब्रह्मचर्य, व्रत, आयु, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की विघ्नभूत नानाविध आधि-व्याधियाँ उत्पन्न होकर प्राणियों का पीड़न करने लगीं, तब उन पर अनुग्रह करके अङ्गिरा, जमदग्नि, वशिष्ठ, कश्यप, भृगु और अत्रि आदि महर्षिगण, जो कि, हवन से प्रज्वलित अग्नि के समान तपस्या के तेज से देदीप्यमान कांति वाले और यम-नियम तथा ब्रह्मज्ञान के निधि थे, प्राणिमात्र के कष्टों का निराकरण करने के उद्देश्य से परम पवित्र हिमालय के श्रेष्ठ भू-भाग पर सुख पूर्वक बैठकर रोग निवारण के उपायों पर विचार करने लगे ।

उन्होंने, दिव्य ज्ञान से यह जान कर कि आयुर्वेद का समस्त ज्ञान स्वर्ग लोक में इन्द्रदेव के पास है, अतः उनसे उस ज्ञान को इस भू-मण्डल पर लाया जाय और इसके लिए अपने में से किसी योग्यतम महर्षि को भेजा जाय, जो वहां से यथावत् उस गुह्य ज्ञान को ला सके । इस सर्व सम्मत प्रस्ताव को सर्व प्रथम महर्षि भरद्वाज ने सहर्ष स्वीकार करके इन्द्रदेव से अपने ज्ञान बल के द्वारा शीघ्र ही सम्पूर्ण आयुर्वेद को ग्रहणकर यथावत् उन महर्षियों को सुना दिया ।

"ऋषयश्च भरद्वाजात् जगृहुस्तं प्रजाहितम् ।
दीर्घमायुश्चिकीर्षन्तो वेदं वर्द्धनमायुषः ।।"

दीर्घ जीवन की अभिलाषा करते हुए ऋषिगण ने प्रजाहितकारी और आयु को बढ़ाने वाले वेद (आयुर्वेद) को भरद्वाज से ग्रहण किया ।

इस प्रकार भरद्वाज के द्वारा इन्द्र से गृहीत उस ज्ञान गंगा को जो

स्वर्ग लोक में प्रवाहित हो रही थी इन महर्षियों ने सामान्यादि छः पदार्थों के रूप में जानकर प्रवाहित किया, जो कि. आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान के नाम से जानी जा रही है।

उपर्युक्त आयुर्वेदावतरण से सर्वथा स्पष्ट है कि, सामान्यादि पदार्थों में सम्पूर्ण आयुर्वेद और उसके मौलिक सिद्धात सन्निहित हैं जिनको यथावत् जानने से ही आयुर्वेद का ज्ञान संभव है। अन्यथा, नहीं। अतएव, इस प्रयोजन की पूर्ति हेतु "**आयुर्वेदीय पदार्थ-विज्ञान**" लिखा जा रहा है और इसी कारण प्रत्येक वैद्य के लिए यह अध्येतव्य विषय भी है।

इस प्रकार मङ्गलात्मक आयुर्वेद अवतरण द्वय के प्रकार, पदार्थज्ञान के उद्भव तथा उसके आधारभूत होने का विवेचन करके आगे आयुर्वेद का स्वरूप परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है।

आयुर्वेद का स्वरूप—

आयुर्वेद लक्षण—किसी भी वस्तुविशेष के विज्ञानार्थ सर्वप्रथम लक्षण का ज्ञान वाञ्छनीय होता है। ज्ञान के बिना उसका परिचय प्राप्त नहीं होता है और न ही उसमें प्रवृत्ति संभव है। अतएव, यहाँ सर्वप्रथम आयुर्वेद का लक्षण प्रस्तुत किया जा रहा है—

हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम् ।
मानञ्च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते ।।

—**च० सू० १।४०।**

अर्थात् जहां (१) हित आयु (२) अहित आयु (३) सुख आयु (४) दुःख आयु इन चार प्रकार की आयु का वर्णन, इन चारों के पथ्य-अपथ्य इस आयु का प्रमाण और उसका स्वरूप निर्दिष्ट किया हो उसे आयुर्वेद शास्त्र कहते हैं।

१. **हित आयु**—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःख भाग् भवेत् ।।

बुद्धि सन्तान का तात्पर्य—आयु के विषय में यह जानकारी प्राप्त करना कि, यह कब से प्रारम्भ हुई और कब तक चलती रहेगी से है। इसका यह ज्ञान प्रकार निरन्तर चलता ही रहता है, अतः यह नित्य है। आयु का ज्ञाता आत्मा भी नित्य है। क्योंकि, आत्मा में ही ज्ञत्व और चेतनत्व अवस्थित है। यह ज्ञत्व तथा चेतनत्व कब से आया यह कहना कठिन है। इसलिए, आत्मा को भी नित्य माना जाता है।

2. **सुख दुःख का अनादित्व**—सुख और दुःख की परम्परा अर्थात् आरोग्य और रोग की अवस्था कब से कहां से कैसी चली; यह जानना असंभव है और सुखावाप्ति तथा दुःख निवृत्ति हेतु द्रव्य का ज्ञान व उपयोग, रोग के कारण तथा उसके लक्षण इनकी जानकारी भी अनादि काल से चली आ रही है। संसार में ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं है, जो द्रव्य का सेवन नहीं करता हो, सुख और दुःख के हेतुओं का भी उपयोग नहीं करता हो और ऐसा भी व्यक्ति नहीं है जिसके शरीर में तत्तद् लक्षणों का प्रादुर्भाव नहीं होता हो। इन्हीं द्रव्यादि के सानुकूल भावों या श्रेष्ठ भावों का प्रयोग करने पर सुख और अश्रेष्ठ भावों के उपयोग से दुःख होता है, यह सर्वथा निर्णीत सिद्धान्त है। इन कारणों से भी आयुर्वेद नित्य है।

3. **स्वभाव संसिद्ध लक्षणत्वात्**—यह द्रव्यों का स्वभाव से ही सिद्ध लक्षण है कि,—गुरु द्रव्यों के उपयोग से शरीरस्थ गुरु गुणों की वृद्धि और लघु गुणों का ह्रास होता है अर्थात् अपने से समान भावों का वर्धन और विपरीत भावों का क्षपण होता है। इसी प्रकार के अन्य सिद्धान्त जो भी निर्दिष्ट किये गये हैं, वे भी सत्य और स्वभाव सिद्ध हैं। अतः, आयुर्वेद नित्य है।

4. **भाव स्वभाव नित्यत्वात्**—पदार्थों के अपने स्वभाव नित्य होते हैं, जैसे अग्नि में उष्णता, जल में द्रवता, वायु में गति आदि। इन सबका ज्ञान आयुर्वेद में वर्णित है। यह ज्ञान भी नित्य है, और इनका यह उपर्युक्त स्वभाव भी नित्य ही है, अतः आयुर्वेद शाश्वत है।

भारतीय दर्शन और उनसे आयुर्वेद का सम्बन्ध—

दृश् धातु से दर्शन शब्द की निष्पत्ति होती है जिसका अर्थ सामान्य-

तया देखना होता है। "दृश्यतेऽनेनेतिदर्शनम्" इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिससे देखा जावे उसे दर्शन कहते हैं। इसमें नेत्र तथा वे शास्त्र जिनके आधार से संसार के समस्त भाव तात्त्विक रूपेण जाने जाते हैं दर्शन कहलाते हैं। जब तक हम किसी भी वस्तु के यथार्थ रूप का अवलोकन नहीं कर लेते हैं तब तक उसका उपयोग करने में संकोच का अनुभव करते हैं। वस्तुओं के उपयोग के अतिरिक्त "ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः" के अनुसार तत्त्वज्ञान के बिना चरम लक्ष्य अर्थात् मुक्ति की प्राप्ति भी संभव नहीं है। इस प्रकार इहलौकिक और पारलौकिक दोनों एषणाओं की अवाप्ति दर्शन शास्त्र से ही होती है। यही वह शास्त्र है जिसमें निगूढातिनिगूढ सिद्धान्तों, तत्त्वों व ज्ञान परम्पराओं का गहन और सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रकार से विचार किया गया है। सभी शास्त्र—धर्म सम्प्रदाय, जाति और देश के लिए इसका ज्ञान परमावश्यक है इसीलिये सभी ने इसका यथा स्थान सन्निवेश किया है।

आयुर्वेद भी एक विज्ञान मूलक तत्त्वान्वेषी शास्त्र है अतएव इसमें दार्शनिक पहलुओं पर स्वतंत्र तथा परतंत्र दोनों ही धारणाओं पर विचार विमर्श करके निर्णय किये गये हैं जो कि पूर्वाग्रह से परे और उदार दृष्टिकोण से "सत्यं शिवं सुन्दरं" के सिद्धान्त से अनुप्राणित हैं।

दर्शनों की संख्या और श्रेणी विभाजन—

(१) आस्तिक दर्शन (२) नास्तिक दर्शन और (३) आस्तिक नास्तिक दर्शन।

आस्तिक दर्शन—वेद के मत का अनुसरण करने वाले तथा ईश्वर वादी दर्शन आस्तिक संज्ञा से कहे जाते हैं। यथा—न्याय, वैशेषिक, सांख्य योग, मीमांसा और वेदान्त दर्शन।

नास्तिक—चार्वाक, जैन और बौद्ध नास्तिक दर्शन हैं। "**नास्तिको वेदनिन्दकः**" के अनुसार प्रधानतया चार्वाक नास्तिक दर्शन है। जैन एवं बौद्ध अपने आपको नास्तिक नहीं मानते हैं। जैन दर्शन–आत्मा-मोक्ष-स्वर्ग-परमात्मा आदि को मानने से आस्तिक नास्तिक कहा जाता है।

आचार्य सुश्रुत ने लिखा है—

"अनुत्पाद्यैव प्रजाः श्लोकशतसहस्रमध्यायसहस्रञ्च कृतवान् स्वयम्भूः

तया देखना होता है। "दृश्यतेऽनेनेतिदर्शनम्" इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिसः देखा जावे उसे दर्शन कहते हैं। इसमें नेत्र तथा वे शास्त्र जिनके आधार स संसार के समस्त भाव तात्त्विक रूपेण जाने जाते हैं दर्शन कहलाते हैं। जब तः हम किसी भी वस्तु के यथार्थ रूप का अवलोकन नहीं कर लेते हैं तब तः उसका उपयोग करने में संकोच का अनुभव करते हैं। वस्तुओं के उपयोग के अतिरिक्त "ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः" के अनुसार तत्त्वज्ञान के बिना चरम लक्ष्य अर्थात् मुक्ति की प्राप्ति भी संभव नहीं है। इस प्रकार इहलौकिक और पार लौकिक दोनों एषणाओं की अवाप्ति दर्शन शास्त्र से ही होती है। यही वः शास्त्र है जिसमें निगूढातिनिगूढ सिद्धान्तों, तत्त्वों व ज्ञान परम्पराओं क गहन और सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रकार से विचार किया गया है। सभी शास्त्र—धर्म सम्प्रदाय, जाति और देश के लिए इसका ज्ञान परमावश्यक है इसीलिये सभ ने इसका यथा स्थान सन्निवेश किया है।

आयुर्वेद भी एक विज्ञान मूलक तत्त्वान्वेषी शास्त्र है अतएव इसः दार्शनिक पहलुओं पर स्वतंत्र तथा परतंत्र दोनों ही धारणाओं पर विचा विमर्श करके निर्णय किये गये हैं जो कि पूर्वाग्रह से परे और उदार दृष्टिकोण से "सत्यं शिवं सुन्दरं" के सिद्धान्त से अनुप्राणित हैं।

दर्शनों की संख्या और श्रेणी विभाजन—

(१) आस्तिक दर्शन (२) नास्तिक दर्शन और (३) आस्तिः नास्तिक दर्शन।

आस्तिक दर्शन—वेद के मत का अनुसरण करने वाले तथा ईश्व वादी दर्शन आस्तिक संज्ञा से कहे जाते हैं। यथा—न्याय, वैशेषिक, सांख्‍ योग, मीमांसा और वेदान्त दर्शन।

नास्तिक—चार्वाक, जैन और बौद्ध नास्तिक दर्शन हैं। "नास्तिको वे नन्दकः" के अनुसार प्रधानतया चार्वाक नास्तिक दर्शन है। जैन एवं बौ अपने आपको नास्तिक नहीं मानते हैं। जैन दर्शन–आत्मा-मोक्ष-स्वर्ग-परमात्‍ आदि को मानने से आस्तिक नास्तिक कहा जाता है।

आचार्य सुश्रुत ने लिखा है—

"अनुत्पाद्यैव प्रजाः श्लोकशतसहस्रमध्यायसहस्रञ्च कृतवान् स्वयम्भूः

के अनुसार सृष्टि की रचना से पूर्व ही एक हजार अध्याय व एक लाख पद्यों वाली आयुर्वेद संहिता का निर्माण हुआ जिसकी ज्ञान गंगा अभी तक प्रवाहित हो रही है। अतः संसार की सृष्टि से आजतक के सभी दर्शनों एवं दार्शनिकों की विचार धाराओं का प्रभाव आयुर्वेद पर और आयुर्वेद का उन उन दर्शन शास्त्रों पर पड़ा। कुछ दार्शनिकों ने आयुर्वेद के मौलिक ग्रन्थों का प्रणयन एवं टीकायें भी की जिससे परस्पर एकरूपता भी हुई। जो आयुर्वेद और दर्शन शास्त्रों के मौलिक सिद्धातो के अवलोकन से सर्वथा स्पष्ट हो जाता है।

१. सांख्य दर्शन—

(१) **प्रमाण मीमांसा**—जैसा कि लिखा जा चुका है, आचार्य चरक ने उन तीन प्रमाणों के परिचयार्थ त्रिविध रोग विज्ञानीय अध्याय का नाम निर्धारण, किया है जिनका कि विवेचन सांख्य शास्त्र करता है। आयुर्वेद में इन तीनों प्रमाणों, प्रत्यक्ष अनुमान और आप्तोपदेश की अधिकाधिक मान्यता है।

(२) **प्रयोजन में एकरूपता**—आचार्य चरक लिखते हैं—**"नात्मार्थं नापिकामार्थमथ भूतदयां प्रति"** उधर सांख्य की प्रथम कारिका में **"दुःख त्रयाभिघातात्"** के द्वारा आध्यात्मिक आधिदैविक और आधिभौतिक तीनों दुःखों की निवृत्ति के उपायों का अन्वेषण करते हैं इसी प्रकार आचार्य सुश्रुत भी इन तीनों प्रकार के रोगों का विवेचन और उनसे मुक्ति के उपायों का अनुसन्धान करते हैं।

(३) **तत्त्व मीमांसा**—प्रकृति विकृति और आत्मा इन तत्त्वों का विवेचन सांख्य चरक और सुश्रुत इन तीनों में प्राप्त होता है। **द्वैत-सिद्धि**-जिस प्रकार सांख्य शास्त्र समस्त तत्वों में अन्ततः दो तत्वों को स्वीकार करते हैं और उन दोनों प्रकृति पुरुष में जाति भेद मानते हुए एकत्व स्वीकार नहीं करते हैं उसी प्रकार आयुर्वेद भी इस द्वैत भाव को स्वीकार करता है।

(४) **पुरुष के अस्तित्व में हेतु**—जिस प्रकार संघात परार्थत्वात् की कारिका के द्वारा संघात के परार्थ होने त्रिगुणादि विपरीत होने से, अधिष्ठान से, भोक्तृ भाव से तथा मोक्ष और प्रवृत्ति होने से पुरुष का अस्तित्व सिद्ध होता

है उसी प्रकार आचार्य चरक "भास्तमः सत्यमनृतम्" के द्वारा पुरुष के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं।

(५) **पुरुष का बहुत्व**—सांख्य शास्त्र "पुरुष बहुत्वं सिद्धम्" इस कारिका से और "**बहवस्तु पुरुषाः**" इस सुश्रुत वचन से आयुर्वेद पुरुष के बहुत्व को सिद्ध करता है।

(६) **परिणामवाद**—"रसाद्रक्तम्" के द्वारा आयुर्वेद तथा "परिणामतः" इस कारिका के अनुसार सांख्य दर्शन परिणामवाद को स्वीकार करता है।

(७) **त्रिगुण सिद्धान्त**—सत्व-रजस्-तमस् का मौलिक रूप से वर्णन करने वाले और मानने वाले सांख्य शास्त्र से आयुर्वेद का घनिष्ट सम्बन्ध है। आयुर्वेद में समस्त मानस् व्याधियाँ, मन की गति और प्रवृत्ति, नाना-विध भाव आदि बहुविध स्थलों में इन त्रिगुणों का विस्तार से विवेचन प्राप्त होता है।

(८) **सत्कार्यवाद**—आयुर्वेद और सांख्य दर्शन का यह बहुत बड़ा सिद्धान्त है जिसको दोनों ने एक रूप से स्वीकार किया है।

(९) **बन्ध और मोक्ष**—इन दोनों का विवेचन भी प्रायः दोनों शास्त्रों में समान रूप से परिलक्षित होता है।

२. **योग दर्शन**—जैसा कि सर्व विदित है, सांख्य और योग दोनों अति साहृश्य वाले शास्त्र हैं। सांख्य दर्शन की भांति योग दर्शन का भी आयुर्वेद से घनिष्ट सम्बन्ध प्रतीत होता है। त्रिविध प्रमाण, निद्रा, स्मृति, अभ्यास, ईश्वर की मान्यता, रागद्वेष, योगियों के अष्टविध बल और कैवल्यादि विषय दोनों शास्त्रों में प्रायः समान रूप से देखे जा सकते हैं।

३. **न्याय दर्शन**—न्याय के १६ विचार-विषयः—सिद्धान्त-प्रमेयादि के चतुर्विधप्रमाण, आत्मा, पुनर्जन्म, मन, बुद्धि, प्रेत्यभाव कर्म फल, दुःख और अपवर्ग आदि की मान्यतायें उभय शास्त्रों में समान रूपेण परिलक्षित होती हैं। प्रधानतया इस शास्त्र की आयुर्वेद शास्त्र से प्रमाण मीमांसा और नव द्रव्यों की वैज्ञानिक विवेचनाएं एकरूपात्मक दृष्टिगोचर होती हैं।

४. **वैशेषिक दर्शन**—न्याय और वैशेषिक दर्शन दोनों प्रायः समान

विचारधारा के दर्शन शास्त्र हैं। वैशेषिक दर्शन पदार्थ मीमांसा में अपनी एक विशेषता रखता है जिसकी साम्यता आयुर्वेद शास्त्र से की जाती है। यद्यपि आयुर्वेद ने अभाव पदार्थ का परिसंख्यान स्पष्ट रूप से नहीं किया है पुनरपि यत्र तत्र इसका वर्णन प्राप्त होता है।

इसके अतिरिक्त स्मृति और ज्ञान मीमांसा आदि विषयों में भी दोनों शास्त्रों की साम्यता है।

५. पूर्व मीमांसा—"**अथातो धर्म जिज्ञासा**" के द्वारा आचार्य जैमिनी पूर्व मीमांसा को प्रारम्भ करते हैं। आयुर्वेद में भी "**धर्मार्थकाममोक्षाणाम्**" तथा "**धर्म्या क्रिया हर्ष-निमित्तमुक्ता**" एवं अन्य बहुविध स्थलों में धर्म की मीमांसा की गई है। वेद की प्रामाण्यता को दोनों ही शास्त्र स्वीकार करते हैं। शब्द की नित्यता आदि भाव भी दोनों में समान रूप से ग्रहण किये गये हैं।

६. उत्तर मीमांसा—(१) सत् से असत् की उत्पत्ति का सिद्धान्त वेदान्त दर्शन में प्राप्त होता है। जो कि आयुर्वेद के "**सत्कार्यवाद**" में समाविष्ट हो जाता है। "**कारणानुरूपं कार्यमितिकृत्वा**" सुश्रुत, "**कारणानुविधायित्वात् कार्याणां तत्स्वभावता**"—**वाग्भट**; "**वर्तते नाप्यहेतुकः**"—चरक, इत्यादि वाक्यों से भी इस प्रसंग का अनुमोदन होता है।

(२) वेदान्त में ब्रह्म मीमांसा प्राप्त होती है। आयुर्वेद में भी—"**अतः परं ब्रह्मभूतो भूतात्मा नोपलभ्यते**" आदि नानाविध उद्धरणों से यही भाव स्पष्ट होता है।

(३) **कर्म और उनका उपभोग**—किये हुए कर्म का फल होता है और उसका उपभोग भी उसे ही करना है यह सत्य सिद्धान्त है इस औपनिषद निर्णय का समर्थन आचार्य चरक "**नाङ्कुरोत्पत्तिरबीजाद् कृतस्य फलन्नाकृतस्य**" तथा "**अत्र कर्म फलञ्चात्र ज्ञानञ्चात्र प्रतिष्ठितम्**" एवं "**वशी तत् कुरुते कर्म यत् कृत्वा फलमश्नुते**" इत्यादि उद्धरणों से कहते हैं कि अपने किए हुए कर्मों का उपभोग अपने ही को करना है, अतः दोनों शास्त्र सत्कर्म के उपदेष्टा हैं। "**ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या**" इस वेदान्त दर्शन के सिद्धान्त को परमार्थतः आयुर्वेद ने भी स्वीकार किया है।

(४) **भूतगुणानुप्रवेश**—भूतगुणों का उत्तरोत्तर भूतानुप्रवेश क्रम दोनों को मान्य है। जो कि भूतविज्ञान प्रकरण में वर्णित है।

(५) **सृष्टि और लय**—वेदान्त दर्शन के कारण से कार्य की उत्पत्ति और कार्य का कारण में लीन होने के सिद्धान्त को आचार्य चरक ने—**"अव्यक्ताद् व्यक्ततां याति व्यक्तादव्यक्ततां पुनः"** अव्यक्त से व्यक्त तथा व्यक्त से अव्यक्त ही होता है, के द्वारा स्पष्ट किया है।

(६) जीवात्मा की अनेकता, जीवात्मा सृष्टि के कर्त्ता नहीं, जीवात्मा का शरीर की सीमाओं में आबद्ध होना, प्राण का स्वरूप आदि विषयों में दोनों जगह समानतायें है।

(७) **आत्मा का कर्तृत्व**—वेदान्त दर्शन आत्मा के कर्तृत्व को स्वीकार करता है तथा आचार्य चरक भी **"कर्ता स एव तु"** के द्वारा आत्मा के कर्तृत्व को स्वीकार करते हैं।

(८) **आप्तोपदेश की मान्यता**—जैसा कि लिखा गया है कि-आयुर्वेद ने आप्तोपदेश को सर्व प्रथम स्वीकार कर इसकी अनिवार्यता का दिग्दर्शन किया है तदनुसार वेदान्त भी इसी सिद्धान्त का अवलम्बन करता है।

(९) **मोक्ष और उसके उपाय**—इन दोनों का वेदान्त तथा आयुर्वेद दोनों में बहुत विस्तार से विवेचन किया गया है।

(१०) **आत्मा से सृष्टि की उत्पत्ति—"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः"** आत्मा से आकाश की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार वेदान्त आत्मा से सृष्टि की उत्पत्ति बतलाता है। जिसका वर्णन आयुर्वेद में इस प्रकार है—

"स गुणोपादानकाले अन्तरिक्षं पूर्वतर-मन्येभ्यो गुणेभ्य उपादत्ते यथा प्रलयात्यये सिसृक्षुर्भूतान्यक्षरभूत आत्मासत्त्वोपादानः पूर्वतरमाकाशं सृजति ततः क्रमेण व्यक्ततरगुणान् धातून् वाय्वादिकांश्चतुरः; तथा देहग्रहणे प्रवर्तमानः पूर्वतरमाकाशमेवोपादत्ते ततः क्रमेण व्यक्ततरगुणान् धातून् वाय्वादिकांश्चतुरः।

—च० शा० ४

प्रमाण विज्ञानीय

अध्याय २

प्रमाण निरुक्ति

प्रमीयते । प्रमिमीतेऽनेन वा । प्रमातेः करणे, कर्तरि, भावे च ल्युट् ।

अर्थात् जिन मान भूत इन्द्रियों से प्रमाता प्रमेय का ज्ञान करता है वे प्रमाण कहलाते हैं।

प्रमाण लक्षण—"यथार्थानुभवः प्रमा, तत्साधनञ्च प्रमाणम् ।" १. यथार्थ अनुभव को प्रमा एवं उसके साधन को प्रमाण कहते हैं। "सम्यग् ज्ञानं प्रमाणम्"—न्याय दीपिका। २. सम्यक् ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। "अर्थोपलब्धि-हेतुः प्रमाणम्"—न्याय वार्तिक ३. अर्थ प्राप्ति के कारण को प्रमाण कहते हैं। ४. जिसके द्वारा जाना जाता है उसे प्रमाण कहते हैं। इस प्रकार ज्ञान के साधन को प्रमाण कहते हैं। ५. जिसके द्वारा वस्तु स्वरूप की परीक्षा की जाती है उसे प्रमाण कहते हैं। ६. प्रमाता जिससे विषय विशेष को प्रमाणित करता है उसे प्रमाण कहते हैं। चरक संहिता की चक्रपाणि और उपस्कार टीकाकार ने प्रमाण शब्द का व्यवहार परीक्षा शब्द से किया है। ७. प्रमाता जिससे अर्थ को प्रमाणित करता है एवं जानता है उसे प्रमाण कहते हैं।

आचार्यों के प्रमाण लक्षणों का समाकलन करने से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कुछ आचार्य साधन को प्रमाण मानने व कुछ साध्य को प्रमाण मानने में अभिरुचि रखते हैं। साधन प्रमाणवादियों का मानना है कि "यथार्थानुभवः प्रमा तस्य करणमसाधारणं करणमिन्द्रियाणि—तस्मादि-न्द्रियाण्येव प्रत्यक्षप्रमाणानि ।" साध्य प्रमाण वादी कहते हैं कि "सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्" सम्यग् ज्ञान—यथार्थानुभव ही तो है यदि उसको ही हम प्रमाण मानेंगे तो फिर प्रमा किसको माना जावेगा—अतः इस अर्थ में हम प्रमाण की व्युत्पत्ति—भाव में करेंगे—जिससे "प्रमायाः भावः उत्पत्तिः प्रमाणम्" होगा।

प्रमाण शब्द की निरुक्ति में साधन वादियों द्वारा करण में और साध्यवादियों द्वारा भाव में ल्युट् प्रत्यय होकर प्रमाण शब्द बनता है–

वस्तुतः इन्द्रियों को ही प्रमाण माना जाय यह साधनवादियों का मत भी विचारणीय है, क्योंकि यदि इन्द्रियों को ही प्रमाण माना जायगा तो इन्द्रिय हीन हो जाने पर यावच् शतमायुः—सौ वर्ष तक देखा हुआ वृद्ध का यथार्थानुभव प्रमाणरूप में ग्रहीत नहीं हो सकेगा। अतः इन्द्रियों को प्रमाण मानने की अपेक्षा अनुभव ही को प्रमाण मानना अपेक्षित है।

किन्तु अनुभव को प्रमाण मानने में भी आपत्ति है—साध्य प्रमाणवादियों के मत में हम कहें—"सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्—'यथार्थानुभवः प्रमाणम्"। अब यदि यथार्थानुभव को ही हम प्रमाण माने तो हम सिद्धि किन की करेंरें, क्योंकि "प्रमेय सिद्धिः प्रमाणाद्धि" प्रमाण से प्रमेय की सिद्धि होती है और वह यथार्थानुभव ही प्रमेय है—फिर उसी को हम प्रमाण मानलें तो प्रमाणों का मानना ही व्यर्थ होगा—

मानो प्रमाण शब्द की व्युत्पत्ति और उससे उत्पन्न इस सम्पूर्ण प्रपञ्च से निवृत्त होने के लिए ही आचार्य चरक, चक्रपाणि व उपस्कार ने प्रत्यक्षादि के लिए प्रमाणशब्द से संज्ञा का निर्देश नहीं किया—क्योंकि प्रमाण शब्द की मूल प्रकृति "माङ् माने" धातु से होती है, जिसका अर्थ "नापना" होता है यह कार्य शरीरेतर अन्य बाह्य उपकरणों से भी सम्भव है—अतः ऐसे अटपटे शब्द को छोड़कर आचार्य चरकने प्रत्यक्षादि की संज्ञा के लिए परीक्षा शब्द का व्यवहार किया है—जिसकी मूल प्रकृति "ईक्ष् संदर्शने धातु" है-इस क्रिया से निर्दिष्ट कर्म शारीर इन्द्रियों के अतिरिक्त अन्य किसी उपकरण से सम्भव नहीं हो सकता अतः प्रत्यक्षादि के लिए प्रमाण शब्द की अपेक्षा परीक्षा शब्द का प्रयोग करना आचार्य चरक का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

प्रमाण पर्यायः—उपलब्धिः साधनं ज्ञानं परीक्षा प्रमाणमित्यनर्थान्तरं समाख्यातम् वचनसामर्थ्यात्।

प्रमाण नित्य मर्यादा शास्त्रेषु सत्यवादिनि।
इयत्तायाञ्च हेतौ च क्लीबैकत्वे प्रमातरि॥

[प्रमा—"यथार्थानुभवः प्रमा"—यथार्थ अनुभव को प्रमा कहते हैं।] "द्विविधं खलु सर्वं सच्चासच्च" इस चरकीय वाक्य के अनुसार ज्ञान दो प्रकार का हो सकता है परन्तु सत्य ज्ञान ही ग्राह्य होता है न कि, असत्य। 'प्रमा' शब्द से सत्य ज्ञान, यथार्थ ज्ञान व यथार्थानुभव को ग्रहण किया जाता है। "यत्रयदस्ति तत्र तस्यानुभवः प्रमा, तद्वति तत्प्रकारकानुभवो वा" नैयायिकों के इस लक्षण से "जो पदार्थ जैसा हो उसमें उसी प्रकार का ज्ञान होना प्रमा का तात्विक लक्षण है।" जैसे रज्जु में सर्प का ज्ञान न होकर रज्जु का ही ज्ञान होना एवं अधोगरक्तपित्त में रक्तार्शस् का ज्ञान न होकर रक्तपित्त का ही ज्ञान होना।

प्रमेय—"योऽर्थः प्रमीयते तत्प्रमेयम्" यथार्थ ज्ञान के विषय को प्रमेय कहते हैं। जिस वस्तु विशेष को हम जानना चाहते हैं, जो हमारे ज्ञान का विषय है; शास्त्रों में हमारे जानने के लिए जिस विषय वस्तु का विन्यास किया गया है, इन सभी को प्रमेय कहते हैं। आयुर्वेदीय मौलिक सिद्धान्तानुसार पञ्चमहाभूत–त्रिगुण–पदार्थ–तत्त्व–त्रिदोष, त्रिसूत्र और त्रिस्कन्ध-विज्ञान प्रभृति प्रमेय हैं।

प्रमाता—उपर्युक्त प्रमेय पदावबोधित वस्तु विषय के ज्ञाता को प्रमाता कहते हैं। प्रत्येक ज्ञेय वस्तु का कोई न कोई ज्ञाता अवश्य होता है जब तक उसका ज्ञान करने वाला या ग्रहण करने वाला नहीं होता तब तक उसके निर्माण का प्रयोजन भी व्यर्थ है। अतः ज्ञेय तथा ग्राह्य वस्तु का कोई न कोई ज्ञाता तथा ग्रहीता अवश्य होता है उसी को प्रमाता कहते हैं। इस अर्थ में आत्म व्यतिरिक्त समस्त वस्तुओं के जड़ात्मक होने से वे ज्ञाता तथा ग्रहीता नहीं बन सकते हैं एवञ्च यद्यपि जो आत्मवान्, इन्द्रियवान्, समनस्क चेतन जगत् है वह प्रमाता है। फिर भी जिसमें जब तक आत्मा की ज्ञानशक्ति व चेतन शक्ति पूर्ण रूपेण विकसित नहीं हो, तब तक वह प्रमाता नहीं होता। इसलिये एक मात्र मनुष्य ही पूर्ण रूपेण प्रमाता है।

स्मृति—१. संस्कारजन्यं ज्ञानंस्मृतिः। तर्कसंग्रहः। २. दृष्ट-श्रुतानुभूतानां स्मरणात् स्मृतिरुच्यते। च० शा० १।१४९ ३. दृष्टं

प्रत्यक्षोपलक्षणं, श्रुतन्त्वागमप्रतीतं, तेन सर्वपूर्वानुभूतावरोधः। चक्रपाणिः। ४. स्मृतिर्भूतार्थविज्ञानम्। सु०उ०। ५. स्मृतिः—स्मरणम्, स्मरः। डल्हणः। ६. स्मृतिस्तु धर्मसंहिता। अमरकोषः प्र०का० ६।६। ७. वेदार्थ-स्मरणपूर्वकं रचित्वात् स्मृतिः। अमर कोष टीका ८. "स्मृ आध्याने" क्तिन्। ९. पूर्वानुभूतार्थस्य हि स्मरणं स्मृतिः। १०. अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः। गंगाधर।

इस प्रकार अनेक आचार्यों ने स्मृति की परिभाषायें की हैं। जिनका तात्पर्य यह है कि,—संस्कारजन्य ज्ञान या भूतकालिक ज्ञान को स्मृति कहते हैं।

अनुभव—तद्भिन्नं ज्ञानं अनुभवः। सच द्विविधः यथार्थोऽयथार्थश्च।

अर्थात् स्मृति से भिन्न विषयक ज्ञान को अनुभव कहते हैं।

स्मृति और अनुभव में भेद-

जो अपूर्व ज्ञान वर्तमान संस्कार के द्वारा उत्पन्न होता है, वह अनुभव कहलाता है और जो अतीत कालिक ज्ञान किन्हीं वर्तमान संस्कारों से उत्पन्न होता है, स्मृति कहलाता है।

प्रमाण के भेद—

१. **प्रत्यक्षमेकं चार्वाकाः**:—चार्वाक दर्शन के अनुसार समस्त प्रमेय जात के यथार्थज्ञान हेतु केवल प्रत्यक्ष प्रमाण ही पर्याप्त है। अन्य प्रमाणों की कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि, इतर सभी प्रमाण प्रत्यक्ष मूलक ही होते हैं।

२. जैन और बौद्ध दर्शन, पदार्थ एवं तत्वों के सत्य ज्ञान हेतु, प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण मानते हैं। क्योंकि, शब्दादि अन्य प्रमाण इन दोनों पर ही आधारित हैं।

३. सांख्य, योगदर्शन, रामानुजाचार्य और जरन्नैयायिक प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द इन तीन प्रमाणों से प्रमेय की सिद्धि करते हैं। क्योंकि, अन्य प्रमाणों का अन्तर्भाव अनुमान में ही हो जाता है।

४ नव्यन्याय, प्राचीनन्याय और आयुर्वेद उक्त तीनों के अतिरिक्त उपमान प्रमाण को भी स्वीकार करते हैं। क्योंकि, सादृश्य जन्य ज्ञान, अनुमान से अतिरिक्त अपना एक विशिष्ट महत्त्व रखता है।

५. प्रभाकर मतावलम्बी मीमांसक उक्त चार प्रमाणों के अतिरिक्त पांचवां प्रमाण "अर्थापत्ति" या "अर्थप्राप्ति" मानते हैं।

६. कुमारिल भट्ट मतानुयायी मीमाँसक एवं वेदान्ती उपर्युक्त पांच प्रमाणों के साथ-साथ छटा प्रमाण "अनुपलब्धि" या "अभाव" को मानते हैं।

७. पौराणिक उक्त छः प्रमाणों के साथ-साथ "संभव" व "ऐतिह्य" प्रमाणों को मान कर कुल ८ प्रमाणों से प्रमेय की सिद्धि करते हैं।

८. तांत्रिक "चेष्टा" नामक नवम प्रमाण को और मानकर अपने मत का प्रतिपादन करते हैं।

९. कुछ अन्य विद्वान् "परिशेष" संज्ञक दशम प्रमाण को भी मानते हैं।

इस प्रकार भिन्न-भिन्न विद्वानों के समर्थन में यथावश्यक रूप से प्रमाणों को स्वीकार करके प्रमेय की सिद्धि की है।

चरक का द्विविध प्रमाण——

प्रत्यक्षतस्तु खलु रोगतत्त्वं बुभुत्सुः सर्वैरिन्द्रियैः
सर्वानिन्द्रियार्थानातुर—शरीरगतान् परीक्षेत....।

च०वि० ४।

आयुर्वेद जहां अन्य दर्शनों की भांति अव्यक्त आत्मा आदि तत्त्वों का तात्त्विक रूपेण व्याख्यान करता है और जगत् की सृष्टि और प्रलय तथा इन दोनों अवस्थाओं में अवस्थित पदार्थों का अत्यन्त सूक्ष्मतया निरूपण करता है, वहां स्थूल जगत् का अशेष विशेष रूपेण परिचय भी प्रस्तुत करता है और "स्वस्थस्य स्वास्थ्य-रक्षणमातुरस्य विकार-प्रशमनञ्च" के प्रयोजन की सिद्धि हेतु रोग का निर्णय तथा तदनुरूप चिकित्सा का विधान भी। अतः यहां पर

प्रत्यक्ष प्रमाण ही मुख्य प्रमाण माना गया है। इसके साथ-साथ "आतुरस्यान्तरात्मानं यो नाविशति रोगवित्। ज्ञान-बुद्धि-प्रदीपेन न स रोगांश्चिकित्सति।" —चरक। के सिद्धान्त की सिद्धि हेतु द्वितीय प्रमाण-अनुमान भी ग्राह्य कोटि में आता है। इन दोनों प्रमाणों पर ही निदान और चिकित्सा अवलम्बित है। अतएव कहा गया है—

"द्विविधं खलु रोग-विशेष ज्ञानं भवति। प्रत्यक्षमनुमानञ्चेति; सहाप्तोपदेशेन त्रिविधमपि।" तथा च—"द्विविधा खलु परीक्षा ज्ञानवतां प्रत्यक्षमनुमानञ्च एतद्धि द्वयमुपदेशश्च परीक्षा स्यात्। एवमेषा द्विविधा परीक्षा त्रिविधा वा सहोपदेशेन।" च०वि० ८।८३

इस प्रकार रोग ज्ञान तथा स्थूल ज्ञान हेतु प्रधान रूपेण प्रत्यक्ष तथा अनुमान इन दो प्रमाणों को स्वीकार किया गया है, सहायकत्वेन आप्तोपदेश भी ग्राह्य है। आप्तोपदेश के प्रथम प्रमाण में मानने के प्रसंग में इसकी उपादेयता और अनिवार्यता स्पष्ट की है। इस प्रकार स्थूल जगत् की सिद्धि के क्रम में आप्तोपदेश को गौण रूपेण स्वीकार किया है। जबकि, अव्यक्त व सूक्ष्मादि भावों की अभिव्यक्ति तथा जिन विषयों का प्रामाणिक परिज्ञान प्रत्यक्षानुमानादिकों से कथमपि संभव नहीं है, उनकी सिद्धि-हेतु इसे प्रधानत्वेन स्वीकार करके आयुर्वेद में एक अपनी विशिष्ट प्रणाली स्थापित की है जो अपने आप में अद्वितीय है।

चरकानुमत त्रिविध प्रमाण—

त्रिविधं खलु रोगविशेषविज्ञानं भवति।
तद् यथा आप्तोपदेशः, प्रत्यक्षम्, अनुमानञ्चेति।

च०वि०।४।३

सर्वविध रोगों के अशेष विशेष ज्ञान हेतु आचार्य चरक ने इन तीन प्रमाणों का व्याख्यान किया है। चरक ने "अनुमानं खलु तर्कोयुक्त्यपेक्षः" तथा चक्रपाणिने "अत्रखलु युक्तेरनुमानान्तर्गतत्वादेव न पृथक्करणम्" से सूत्र स्थान में स्वीकृत चार प्रमाणों में से युक्ति को अनुमानान्तर्गत मानते हुए तीन ही प्रमाण प्रस्तुत किये हैं।

उक्त प्रमाणों की मान्यता व्यावहारिक रूप से चरक में अधिक प्रतीत होती है। चरक में सांख्य-योग तथा जरन्नैयायिकों के मतों का विवेचन प्राप्त होता है। तदनुसार इन तीनों दर्शनशास्त्रों में वर्णित उक्त तीनों प्रमाणों के ग्रहण करने का कारण भी स्पष्ट है। इन तीनों दर्शनों का प्रयोजन आत्यन्तिक व्याधि परिमोक्ष एवं आचार्य चरक का प्रयोजन आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति व व्यधि परिमोक्ष होने के कारण तदर्थ तीनों ही प्रमाण, प्रमेय ज्ञान में स्वीकृत हुए हैं।

चरकानुमत चतुर्विध प्रमाण--

"द्विविधं खलु सर्वं सच्चासच्च तस्य चतुर्विधा परीक्षा।
आप्तोपदेशः, प्रत्यक्षं, अनुमानं, युक्तिश्चेति।
—च० सू० ११।

चरक ने सर्व प्रथम प्रमाणों के विषय में सूत्र स्थान की ११वीं अध्याय में उक्त प्रकार से विवेचन किया है। यहां पर युक्ति प्रमाण को प्रमाणत्वेन परिगणित करके प्रमाण संख्या चार की है। यही क्रम सर्वाधिक प्रशस्त और ग्राह्य है। उक्त प्रसंग में जगत् के सत्यासत्यात्मक दो रूप प्रदर्शित करके उनके निर्णयार्थ तथा विशेषतया पुनर्भव की सिद्धि हेतु इनको प्रस्तुत किया है।

प्रयोजनों की भिन्नता से ही पृथक्-पृथक् स्थलों पर प्रमाण भेद दृष्टिगोचर होता है। यहाँ पर उपमान की आवश्यकता नहीं समझकर इसके स्थान पर युक्ति को अधिक उपयुक्त माना गया।

दूसरे स्थल पर आप्तोपदेश व युक्ति की अनिवार्यता के अभाव में उपमान तथा ऐतिह्य इन दो प्रमाणों को स्वीकार करके संख्या चार की है।

इनका प्रयोजन वाद विवाद की सिद्धि ही परिलक्षित होता है। जैसा कि, लिखा है—

"इमानि खलु पदानि-वाद-मार्ग ज्ञानार्थ-मधिगम्यानि भवन्ति,
तद्यथा-वादः द्रव्य-गुणाः············प्रत्यक्षानुमानोपमानमैतिह्यम्
।.........।" च०वि ।८।

दश-विध प्रमाणों का चतुर्विध प्रमाणों में समन्वय—

प्रत्यक्ष, अनुमान, आप्तोपदेश और उपमान ही ऐसे चार प्रमाण वर्णित किये गये हैं जिनमें शेष षड्विध प्रमाणों का समावेश हो जाता है। यद्यपि यहां यह ज्ञेय है कि, तत्तत् दर्शन शास्त्रों ने अपने अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिये इन सबका औचित्य सिद्ध किया है। आयुर्वेद प्रायः सर्वाधिक प्रमाणों को मानने वाला शास्त्र है, पुनरपि प्रधानतया उपर्युक्त चार प्रमाण ही यहां वर्णित किए गये हैं। जबकि शेष ६ प्रमाणों का इन्हीं चतुर्विध प्रमाणों में समावेश कर दिया गया है—

१. **अर्थापत्ति**—इस प्रमाण का अन्तर्भाव अनुमान में किया जाता है, क्योंकि, इसमें प्रत्यक्ष किये हुए अर्थ का अनुमान उसके नित्य सम्बन्ध के द्वारा होता है। यथा देवदत्त के दिन में भोजन नहीं करने पर भी उसके मोटे होने का अनुमान कि, वह रात्रि में भोजन करता होगा, हो जाता है।

२. **अनुपलब्धि या अभाव**—भाव (सत्ता) के विरुद्ध को अभाव कहते हैं। जिस वस्तु के भाव का ज्ञान इन्द्रिय के द्वारा किया जाता है उसके अभाव का ज्ञान भी उसी इन्द्रिय के द्वारा हो जाता है। जैसे कि चरक ने लिखा है—

"स्पर्शनेन्द्रियविज्ञेयः स्पर्शो हि सविपर्ययः" से यह प्रमाणित होता है कि स्पर्श और स्पर्शाभाव का ज्ञान स्पर्शनेन्द्रिय से ही होता है। अतः अभाव का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष प्रमाण में किया जाना चाहिए।

३. **सम्भव**—यह प्रमाण सर्वथा प्रत्यक्ष मूलक होने से प्रत्यक्ष में ही समावेश के योग्य है।

४. **ऐतिह्य**—इसका अन्तर्भाव शब्द प्रमाण या आप्तोपदेश में किया जाता है क्योंकि ऐतिह्य का ज्ञान बिना आप्त प्रमाण के संभव नहीं है।

५. **चेष्टा**—चेष्टाओं का सीधा सम्बन्ध अनुमान से किया जाता है, अतः दार्शनिकों की यह मान्यता है कि, इसका अनुमान प्रमाण में अन्तर्भाव होता है।

६. **परिशेष**—बिना प्रत्यक्ष प्रमाण के परिशेष प्रमाण का परिज्ञा

प्राप्त नहीं हो सकता। अतः इसका अन्तर्भाव प्रत्यक्ष प्रमाण में किया जाता है।

स्वतः प्रमाण और परतः प्रमाण :—

इस विषय में विभिन्न दार्शनिकों के पृथक्-पृथक् मत प्राप्त होते हैं।

१. स्वतः प्रमाण वह होता है, जिस को प्रमाणित करने के लिये किसी अन्य प्रमाणान्तर की आवश्यकता नहीं होती, अपितु वह अपने आप को प्रमाणित करता है या यों कहें कि, वह अपने-आप में प्रमाण-भूत होता है। इस अर्थ में वेद का ग्रहण किया जाता है अर्थात् वेद ही स्वतः प्रमाण हैं। क्योंकि वे अपौरुषत्वेन मान्य किये गये हैं।

२. आप्तपुरुष, जिनका कि निष्प्रीति और उपताप रहित निर्दोष और तत्त्व वेत्ता एवं यथार्थ वादी इन विशिष्ट गुणों से युक्त महापुरुषों को एवं उनके कहे हुए वाक्यों को भी स्वतः प्रमाण कहा जा सकता है। क्योंकि इनके लिये भी किसी प्रमाणान्तर की आवश्यकता नहीं है। उपर्युक्त महापुरुष अपनी तपस्या और योग इन से उन उन भावों को स्वतः जानकर लोक कल्याणार्थ उपदेश करते हैं।

३. ऐन्द्रियक ज्ञान को भी स्वतः प्रमाण की कोटि में उपस्थित करते हैं। क्योंकि, वहां पर भी किसी प्रमाणान्तर की आवश्यकता नहीं होती है।

४. मीमांसक स्वतः प्रमाणवादी और नैयायिक परतः प्रमाणवादी हैं।

उपर्युक्त लक्षण के विपरीत प्रमाण को परतः प्रमाण कहते हैं। इस प्रमाण के अन्तर्गत जो वेदानुकूल शास्त्र या वाक्य विशेष हैं, जो वेद विधि का व्याख्यान करते हैं, उन्हें परतः प्रमाण कहा जाता है। सामान्यतया जहां पर किसी प्रमाणान्तर के सहयोग से विधि और निषेधात्मक वाक्यों का निर्णय किया जाता है, उन्हें परतः प्रमाण कहते हैं।

प्रमाण ज्ञान का महत्व—प्रमाणों का प्रयोजन प्रमेय प्राप्ति है, जिसकी सिद्धि प्रमाण के विना संभव नहीं है। जैसे "प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि"। हम जिस किसी भी वस्तु का प्रयोग या उसका ज्ञान करना चाहते हैं इसके पूर्व उसकी परीक्षा अनिवार्य है, तदनन्तर ही वह प्रयोज्य हो

सकता है। उसकी सत्यता, यथार्थता और वास्तविकता प्रमाण से ही प्रमाणित हो सकती है। आचार्य चरक ने "द्विविधं खलु सर्वं सच्चासच्च" का निर्णय-प्रमाणों से ही करने को कहा है। संसार के समस्त पदार्थजात का परिचय और उनकी प्रामाणिकता प्रमाणों से ही सम्भव है। शास्त्र कार ने इसके लिए एक निदर्शन प्रस्तुत किया हैं—"प्रयोजनं विहाय कार्येषुमन्दोऽपि न प्रवर्तते।" प्राणियों का यह स्वभाव है कि, वे तब तक किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं हो सकते जब तक उनको किसी अभीष्ट प्रयोजन की सिद्धि दिखाई न दे, इसी लिए "सम्बन्धश्चाधिकारी च विषयश्च प्रयोजनम्" कह कर प्रयोजन को ग्रन्थ का उद्देश्य माना है। आतुर और अनातुर शरीर और संसार इन सभी का वास्तविक ज्ञान प्रमाणों से ही किया जाता है। जब तक किसी भी प्रमेय की प्रामाणिकता नहीं होती, तब तक उसका प्रयोग नहीं होता है। अतः परलोक सिद्धि, शास्त्रसिद्धि, एवं व्यवहार सिद्धि आदि सभी स्थलों में प्रमाण ज्ञान अनिवार्यत्वेन उपादेय है। जिस प्रकार भिषक्, द्रव्य, उपस्थाता और रोगी इन चारों के गुणवान् होने पर ही चिकित्सा में सफलता प्राप्त होती है, उसी प्रकार प्रमा प्रभृति चारों की व्यवस्थित स्थिति से ही तत्त्व ज्ञान संभव है। इनमें से किसी एक के अभाव या अपूर्ण होने पर इष्ट सिद्धि नहीं होती। इस लिये इन चारों के स्वरूप को व्यवस्थित करने में यत्नवान् होना चाहिए। जिस प्रकार आलोकार्थी मनुष्य प्रदीप के लिए प्रयत्नवान् होता है।

प्रमाण का फल—

"आलोकार्थी दीपशिखायां यत्नवाञ्जनः" इस सूक्ति के अनुसार प्रमेय की प्राप्ति हेतु प्रमाणों का पूर्ण रूपेण परिज्ञान प्राप्त करें जिनसे कि, अशेष विशेष, सत्य, त्रिकालाबाधित और निःसंशय ज्ञान की प्राप्ति होती है। यही प्रमाण का फल जानना चाहिए। यह सर्वविदित है कि, सभी शास्त्र प्रमाण को स्वीकार करते हैं और तत्तत् शास्त्रों में भिन्न भिन्न प्रयोजन लिखे गये हैं तदनुसार ही उन उन शास्त्रों व ग्रन्थों में तत्तत् प्रयोजन की सिद्धि प्रमाणों से प्राप्त है। यथा न्याय शास्त्र में प्रमाण का फल तो द्रव्यों की सिद्धि और आत्म संवित्ति है। आयुर्वेद में पदार्थ तत्त्व, पुनर्जन्म, उदय, प्रलय, रोग, रोगी

औषध आदि की सिद्धि हेतु प्रमाण ही परिशेष हैं। इस प्रकार सारांश यह है कि, संसार के सभी स्थूल–सूक्ष्म, दृष्ट-अदृष्ट, सत्य–असत्य, उपादेय-अनुपादेय, शास्त्रीय–अशास्त्रीय, कारण–कार्य, नित्य–अनित्य, चाहे वे किसी भी स्थिति में और किसी भी संज्ञा वाले हों उन सभी का निर्णय प्रमाण ज्ञान द्वारा होता है। इस लिये दार्शनिकों के यहां इनका विस्तार से विवेचन प्राप्त होता है।

आयुर्वेद में त्रिविध प्रमाणों का उपयोग—

१. यद्यपि आयुर्वेद में तत्तत् स्थलों में प्रायः सभी प्रमाणों को ग्रहण किया है पुनरपि आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष और अनुमान इन तीनों प्रमाणों का प्रयोग अन्य प्रमाणों की अपेक्षा अधिक किया गया है। २. आचार्य चरक ने विमान स्थान की चतुर्थ अध्याय का नाम ही "त्रिविध-रोग-विशेष-विज्ञानीय" रखा है, जहाँ पर आप्तोपदेश प्रत्यक्ष और अनुमान का ही वर्णन प्राप्त होता है एवं इन्हीं तीनों के द्वारा समस्त रोगों के निर्णय का विवेचन किया है। यथा **"त्रिविधं खलु रोग-विशेष-विज्ञानं भवति । यथा–आप्तोपदेशः, प्रत्यक्षम्, अनुमानञ्चेति"** इसके आगे पुनः लिखते हैं—**त्रिविधेन खल्वनेन ज्ञान-समुदायेन पूर्वं परीक्ष्य रोगं सर्वथा सर्वमथोत्तरकालमध्यवसानमदोषं भवति ।" "न हि ज्ञानावयवेन कृत्स्ने ज्ञेये ज्ञानमुत्पद्यते ।"—च० वि० ४।५**

यदि इन तीन प्रकार के (आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष एवं अनुमान) रोग विज्ञान उपायों से सावधानतया, पूर्व में रोग की परीक्षा करके निर्णय किया जावे तो भविष्य में चिकित्सा करते समय कदापि असफलता नहीं होती और उसका सत्य ज्ञान होता है। ज्ञानावयव के जानने पर सम्पूर्ण ज्ञेय का ज्ञान नहीं होता, इसलिए उक्त तीनों ही प्रमाण माननें चाहिएं। आचार्य के उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि, रोग ज्ञान के क्रम में उक्त तीनों प्रमाण आवश्यक हैं, तथा यहाँ पर अन्य प्रमाणों का समावेश भी हो जाता है। चरक ने तत्तत् स्थलों में भिन्न संख्या में प्रयोजनानुसार प्रमाणों की विचारणायें की हैं।

चरक और सुश्रुत की प्रमाण विचारणा—

१. सुश्रुत की प्रमाण विषयक मान्यता चरक के समान है—यद्यपि

चार प्रकार के प्रमाण यहां पर भी प्रस्तुत किये हैं परन्तु आचार्य सुश्रुत ने
युक्ति प्रमाण को नहीं मानकर उपमान प्रमाण को स्वीकार किया है। यथा-
"तस्याङ्गवरमाद्यमागमप्रत्यक्षानुमानोपमानैरविरुद्धमुच्यमानमुपधारय"। —सु०
सू० १।१३ २ आचार्य चरक प्रयोजन भिन्नता के अनुसार तत्तत् स्थलों में
तत्तत् प्रमाणों को स्वीकार करते हुए ऐक्य भाव में नहीं रहे हैं, जबकि सुश्रुत
सर्वत्र उक्त चार ही प्रमाण मानते हुए सभी प्रमेयों की सिद्धि करते हैं।
३. चरक ने सूत्र स्थान में ६ पदार्थ तथा पुनर्भव को प्रस्तुत करके उनकी
सिद्धि हेतु चार प्रमाणों का उल्लेख किया है। इनके अतिरिक्त चरक-
शारीर स्थान में दार्शनिक विषयों का विस्तार से विवेचन किया गया है, जबकि
सुश्रुत ने शारीर स्थान के प्रथमाध्याय में उत्पत्ति प्रकरण और सामान्य
दार्शनिक सिद्धान्तों का अति संक्षिप्त रूप से वर्णन किया है। (४) आचार्य
चरक ने विमान स्थान में वादविवाद प्रसङ्ग को उपस्थित करके उनकी सिद्धि
हेतु अन्य चार प्रमाणों की स्थापना की है। सुश्रुत ने इस प्रकार के किसी
भी विषय विशेष का व्याख्यान नहीं किया है। (५) चरक ने वाद एवं तत्त्व
निर्णयार्थ प्रयुक्त प्रमाणों का प्रयोग रोग ज्ञान में नहीं करके उनके लिए
भिन्न क्रम रखा है जैसा कि, स्पष्ट किया जा चुका है। परन्तु आचार्य सुश्रुत
ने इन सभी विषयों के लिए आप्तोपदेश–प्रत्यक्ष–अनुमान और उपमान
इनका ही प्रयोग किया है। इस प्रकार सुश्रुत ने किन्हीं विशेष विषयों का
विवेचन किसी विशेष प्रमाण से करना उपयुक्त नहीं समझा है। संभवतः
उपर्युक्त चार प्रमाणों का क्रम न्याय-सूत्रोक्त "प्रत्यक्षानुमानोपमान-
शब्दाःप्रमाणानि" के अनुसार गृहीत हुआ है। परन्तु इसमें भी चरक की भांति
सर्वप्रथम प्रत्यक्ष का ग्रहण नहीं कर आप्तोपदेश का निर्देश करके एक मौलिक
परिवर्तन किया है। यहाँ यह विमर्शनीय है कि यद्यपि सुश्रुत ने नामतः उक्त
चार प्रमाणों का ही परिसंख्यान किया है, किन्तु—

"ध्रुवं चतुर्णां सान्निध्याद् गर्भः स्याद्विधि-पूर्वकः।
ऋतु—क्षेत्राम्बु—बीजानां सामग्र्यादङ्कुरो यथा"॥

—सु० शा० २।३३

इस स्थल पर युक्ति का नामतः निर्देश नहीं करके इसकी अप्रत्यक्ष रूप से स्वीकृति की प्रतीति होती है।

अप्रमा—"तदभाववति तत्प्रकारकोऽनुभवोऽयथार्थः"। जो पदार्थ वस्तुतः उस प्रकार का न हो परन्तु उसको उसी प्रकार का समझना अयथार्थ ज्ञान कहलाता है जिसे अप्रमा कहते हैं। जैसे रज्जु में सर्प तथा अतिसार में ग्रहणी का ज्ञान।

संशय—(१) "एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धनाना धर्मवैशिष्ट्यावगाहि-ज्ञानं संशयः। यथा-स्थाणुर्वा पुरुषो वेति। तर्क-संग्रहः"। किसी एक धर्म में परस्पर विरुद्ध अनेक धर्म विशेषात्मक ज्ञान को संशय कहते हैं। (२) "दूरात् चक्षुषा अर्थं पश्यन् कश्चित् तत्कालं नावधारयति, स्थाणुरिति वा पुरुष इति वा। तच्च अनवधारणज्ञानं संशयः"। उपस्कारः।

भ्रम—'भ्रमु' अनवस्थाने धातु से 'भ्रम' शब्द बनता है। जिसे अप्रमा, मिथ्याज्ञान, भ्रान्ति तथा मिथ्यामति इन पर्यायों द्वारा जाना जाता है। सुश्रुत के प्रमाण प्रसङ्ग में डल्हण ने अपनी टीका में भ्रम के लिये लिखा है कि—"इन्द्रियाणामसंज्ञानं वस्तुतत्त्वे भ्रमः स्मृतः। ग्रीष्मे सूर्य—मरीचयः भौमेनोष्मणा संसृष्टाः स्पन्दमानाः लक्ष्यन्ते, तत्रेन्द्रियार्थ-सन्निकर्षात् तत्कालं उदकं-इति ज्ञानामुत्पद्यते। तच्च तस्मिन् "तत्" इति ज्ञानं भ्रमः"।

प्रत्यक्ष की निरुक्ति—अक्षं अक्षं प्रति इति प्रत्यक्षम्—"अक्षू व्याप्तौ" इस धातु से पचाद्यच् प्रत्यय होकर अक्ष का निर्माण "अक्षति व्याप्नोति ज्ञानम्" इस अर्थ में होता है अर्थात् विषयों का ज्ञान जिनमें व्याप्त होता है उनको "अक्षम्" कहते हैं। ज्ञान प्राप्ति मूलक जिन अंगों को अक्षम् कहते हैं वे अंग शास्त्रों और लोक में इन्द्रिय शब्द से व्यवहार्य है। जैसाकि मेदिनी ने कहा है—

"अक्षो ज्ञानात्मशकट व्यवहाररेषु पाशके।
रुद्राक्षेन्द्राक्षयोः सर्पे विभीतक तरावपि॥
चक्रे कर्षे पुमान् क्लीबे तुत्थे सौवर्चलेन्द्रिये"॥

प्रतिशब्द प्रतिदान अर्थ में है, यह प्रतिवीप्सा अर्थ में समास को प्राप्त कर प्रतिदान अर्थ का अवबोधक है जिससे प्रत्येक इन्द्रिय द्वारा प्रतिदत्त ज्ञान

इस मानस बुद्धि का उल्लेख इन लक्षणों में अन्य किसी आचार्य ने नहीं किया है।

चरक का प्रत्यक्ष लक्षण और उसकी भेद मीमांसा—

आयुर्वेद, न्याय, मीमांसा आदि के आचार्यों ने जो प्रत्यक्ष प्रमाण लक्षण किये हैं, वे प्रायशः एकाङ्गी हैं कुछ ही लक्षण ऐसे हैं, जो अपने आप परिपूर्ण हैं। जैसे "आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानां सन्निकर्षात् प्रवर्तते। व्यक्ता तदा या बुद्धिः प्रत्यक्षं सा निरुच्यते" यह आचार्य चरककृत प्रत्यक्षप्रमाण परिपूर्ण लक्षण है, इसमें विषय अन्तःकरण बहिःकरण और ज्ञाता सभी एकतान प्रवृत्ति को सन्निकर्ष कहकर प्रत्यक्ष होना बतलाया है, किन्तु इन आचार्य चरक ने अपर स्थलों में "अथप्रत्यक्ष—प्रत्यक्षं नाम तद्यदात्मना चे यैश्च स्वयमुत्पद्यते। तत्रात्म-प्रत्यक्षाः—सुख-दुःखेच्छा-द्वेषादयः शब्दाद स्त्विन्द्रियप्रत्यक्षाः।" इस स्थल में आत्मा से और इन्द्रिय से ही स्वयं उत होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है, मन को स्पष्टतः छोड़ दिया है। आ द्वारा कृत यह प्रत्यक्ष लक्षण अपूर्णवत् प्रतीत होता है, क्योंकि, लक्षण प्रयोजन होता है व्यावृत्ति या व्यवहार। इतर अनुमानादि लक्षणों से व्या के लिए तो "आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानां सन्निकर्षात्" पूर्ण लक्षण कहा ही चुका, अतः प्रकृत लक्षण भेद व्यवहार मूलक है, जिसमें आचार्य को सम्भ यह बतलाना अभीप्सित हो सकता है कि, प्रत्यक्ष दो प्रकार का है ऐन्द्रि और आत्मप्रत्यक्ष, ऐन्द्रियकप्रत्यक्ष-विषयप्रत्यक्ष तथा आत्मप्रत्यक्ष-सु प्रत्यक्ष। इस प्रकार भेदव्यवहार हेतु किया गया यह लक्षण अपूर्ण होते हुए अपने आप में पूर्ण है।

अथवा यह भी हो सकता है कि विषय दो ही स्थानों में रहते वस्तुस्थिति में इन्द्रियों में और भावस्थिति में आत्मा में। मन के इन्द्रिय संस्पर्श होने पर वस्तुरूपी विषयों का प्रत्यक्ष होता है और आत संस्पर्श होने पर भावज आत्मप्रत्यक्ष होता है। इसी को अन्यत्र स्थ ऐन्द्रियक और मानस संस्पर्श की संज्ञा दी है। अथवा आचार्यों द्वारा लक्षण के संक्षिप्तीकरण की यह एक प्रक्रिया है, जिसमें एक प्रधान के नाम सह ग से इतर समीकरण स्वयमेवाक्षिप्त होकर लक्षण समन्वय करते हैं, जैसे "आ

इस प्रधान के ग्रहण से मन का और "इन्द्रिय" के साथ मन और आत्मा आक्षिप्त होकर पूर्ण लक्षण बनाते हैं। इसी प्रकार इससे पूर्व में ही "प्रत्यक्षन्तु खलु तद्यत् स्वयमिन्द्रियैर्मनसाचोपलभ्यते" कहकर आचार्य ने ऐन्द्रियक और मानस प्रत्यक्षों का ही ग्रहण किया है। इस स्थल में आत्मा की उपेक्षा कर दी गई है। इस लक्षण को भी व्यवस्थित बनाने के लिए पूर्व समाधानों में से किसी एक का अवलम्बन करना आवश्यक होगा। उपर्युक्त विभेदात्मक अर्थों की स्थिति में सारांश रूपेण यह जानना चाहिए कि—"लक्ष्यते वर्णनीयं वस्तु येन तल्लक्षणम्" जिससे वर्णनीय वस्तु जानी जावे उसे लक्षण कहते हैं। आचार्य चरक द्वारा किए गये लक्षणों की समीक्षा करने से हम इन्हें दो प्रकार के प्राप्त करते हैं, प्रक्रियात्मक और भेदात्मक। जो लक्षण प्रत्यक्ष ज्ञान की प्रक्रिया को प्रदर्शित करते हुए किये गये हैं वे सब प्रक्रियात्मक हैं। जैसे—"आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानां" यह प्रत्यक्ष का लक्षण विषयों और कारणों के सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है। प्रत्यक्ष ज्ञान की इस प्रक्रिया का प्रदर्शन करता है। इस प्रकिया से हमें विदित होता है कि प्रत्यक्ष-ज्ञान सन्निकर्षजन्य ज्ञान होता है इसीलिए अन्नम्भट्ट ने "इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यंज्ञानं प्रत्यक्षम्" कहा है। **प्रत्यक्ष का भेदात्मक लक्षण**–दूसरे प्रकार के लक्षण जो आचार्य चरक ने प्रत्यक्ष के किए हैं वे सब भेद निदर्शन परक हैं ५ व ७ संख्या में वर्णित इन दोनों लक्षणों के समाकलन से हम प्रत्यक्ष के तीन भेद प्राप्त करते हैं–इन्द्रियप्रत्यक्ष, मानसप्रत्यक्ष और आत्मप्रत्यक्ष। इन्द्रियप्रत्यक्ष के विषय रूप रसादि पांच हैं तथा मानस प्रत्यक्ष के विषय चिन्त्यविचार्यादि हैं। उक्त प्रत्यक्ष के फलविषय सुखादि हैं। रूपादि के ऐन्द्रियक प्रत्यक्ष में आत्मादि चारों का सन्निकर्ष, मानसप्रत्यक्ष में मन और आत्मा का, आत्मजप्रत्यक्ष में आत्मा और मन का सन्निकर्ष होता है। इन सन्निकर्षों के होते ही ज्ञान स्वयं उपलब्ध हो जाता है। इसके लिए अन्य क्रिया की आवश्यकता नहीं हुआ करती, इसीलिए आचार्य ने उपर्युक्त तीनों लक्षणों की प्रकारकता को दोनों स्थलों पर बतलाते हुए "स्वयं" शब्द की प्रसक्ति की। इसके अतिरिक्त आचार्य ने प्रत्यक्ष के भेद बतलाते हुए **"या यदिन्द्रियमाश्रित्य जन्तोर्बुद्धिः प्रवर्तते। याति सा तेन निर्देशं मनसा च मनो भवा"।** इस भांति छः प्रकार का प्रत्यक्ष माना है।

नैयायिकों ने करण वैचित्र्य जनित भेद न मानकर समुत्पन्न ज्ञान ही दो भेद माने हैं। सविकल्पक और निर्विकल्पक, जिनका विवेचन आगे कि जायेगा। चरकोक्त तीनों या छहों प्रकार के ज्ञानों में मूलतः इन्द्रिय जन्य का प्राधान्य होने से सब स्थानों पर "ऐन्द्रियक" प्रत्यक्ष का निर्देश किया ग है, क्योंकि मानसप्रत्यक्ष जो कि चिन्त्यादिविषयात्मक है वह भी मूल तात्कालिक या कालान्तरित ऐन्द्रियप्रत्यक्षों पर ही अवलम्बित रहता है इसी प्रकार आत्मगत सुखादिप्रत्यक्ष भी मूलतः ऐन्द्रियक प्रत्यक्षों पर अवलम्बित होते हैं। एक योगज प्रत्यक्ष का उल्लेख आचार्यों ने और किया जो बाह्य विषयों से निरपेक्ष होकर स्वयं आत्मा मन के साहाय्य से कि अनिर्वचनीय व अलौकिक को प्रत्यक्ष करता है। तथा कभी कभी मन स्व समाधिस्थ होकर अन्तर्हित या दूरदेशकालगत बाह्यविषयों का भी प्रत्य करता है। आतुरपरीक्षाप्रकरण में आचार्य चरक ने सम्पूर्ण इन्द्रियां सम्पूर्ण इन्द्रियार्थों की परीक्षा को प्रत्यक्ष कहा है। इस स्थल में उन्होंने मन औ आत्मा दोनों की उपेक्षा की है, इस स्थल में भी आत्मा और मन दोनों क अध्याहार करना आवश्यक है, क्योंकि ऐसे स्थल बोलचाल की भाषा में लि हुए से प्रतीत होते हैं, जिनमें प्रत्येक जगह सम्पूर्ण करणों का ग्रहण करन अनुचित सा लगता है। हम लोग भी व्यवहार में आंख से देखता हूं, कान सुनता हूं, इतना ही प्रयोग करते हैं, न कि आत्मा और मन तथा चक्षु सन्निकर्ष से देखता हूं का प्रयोग।

लक्षणों के संक्षिप्तीकरण की प्रक्रिया में "डल्हण" और भी आगे हैं, उन्होंने "जो कुछ भी विषयों का साक्षात्कारि ज्ञान है" उसको प्रत्यक्ष मा है। इस लक्षण में आया हुआ साक्षात्कारि पद अपने में सम्पूर्ण करणों अन्तर्हित कर लेता है, क्योंकि साक्षात् शब्द में सम्प्राप्त अक्ष शब्द इन्द्रियों क पर्याय और उसके साथ समास को प्राप्त हुआ सह शब्द मन आदि का प्रत्यायक है, इसलिये साक्षात्कार की सन्निकर्ष प्रणाली ही यहां प्रत्यक्ष की अवगमक होती है।

प्रत्यक्ष प्रमाण के भेद—

(१) चरक ने सुख-दुःख इच्छा और द्वेषादि को आत्मप्रत्यक्ष तथा

शब्दादि को इन्द्रिय प्रत्यक्ष स्वीकार करके प्रत्यक्ष के दो भेद किये हैं। २. जैसा कि, ऊपर लिखा जा चुका है; पांचों ज्ञानेन्द्रियों से पांच तथा एक मन से होने वाला इस तरह छः प्रकार का प्रत्यक्ष होता है। ३. संसार में असंख्य वस्तुए हैं और उनका प्रत्यक्ष भी उनके अनुसार ही होता है; अतः एक प्रकार से कहा जा सकता है कि, प्रत्यक्ष भी असंख्य हैं। परन्तु, इस निर्णय से व्यवहार पक्ष अत्यन्त दुर्बल हो जाता है। अतः प्रत्यक्ष का प्रयोग व्यवहार जगत् में शास्त्रीय सिद्धान्तानुसार हो सके एतदर्थ दार्शनिकों ने निम्नोक्त वर्गीकरण किया है। **१. निर्विकल्पक २. सविकल्पक।** निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को निष्प्रकारक ज्ञान भी कहते हैं। (क) जो प्रत्यक्ष प्रकारता से रहित हो उसे निष्प्रकारक प्रत्यक्ष कहते हैं। (ख) जिस प्रत्यक्ष में नाम-गुण-कर्म-जाति का ज्ञान नहीं होता है (ग) यह पदार्थ किस आकार का है, यह कौनसी वस्तु है, इसका स्वरूप क्या है इत्यादि विशेषण विशिष्ट अर्थों का जहां उल्लेख नहीं होकर केवल "यह कुछ है" इस प्रकार का ज्ञान हो उसे निर्विकल्पक प्रत्यक्ष कहते हैं। (घ) जैसे **"विश्व लक्षणा गुणाः"** के द्वारा गुणों का कोई निश्चित लक्षण नहीं माना गया है। उसी प्रकार निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को अप्रमा तथा प्रमा इन दोनों से ही भिन्न एक विशिष्ट लक्षणात्मक प्रमाण माना जा सकता है। जैसे कि, श्री गंगोपाध्याय ने लिखा है **"न प्रमा नापि भ्रमं ज्ञानं स्यान्निर्विकल्पकम्। प्रकारतादि शून्यंहि सम्बन्धानवगाहितत्।"** इस प्रकार यह प्रमा एवं अप्रमा से भिन्न प्रतीत होते हुए भी न्यायसिद्धान्त मुक्तावली में प्रमात्मक ही माना गया है। क्योंकि, संशय और भ्रम दोनों ही ग्राह्य नहीं होने से इसका कोई प्रयोजन ही नहीं रहेगा। अतः, निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को प्रमात्मक मानना ही उचित होगा।

सविकल्पक प्रत्यक्ष—(क) जो नानाविध कल्पनाओं से युक्त हो या जिसमें ज्ञान विषयक कल्पनायें की जा सकती हों, (ख) निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के विरुद्ध जिसमें नाम-जाति-गुण-क्रिया-आकार प्रकार आदि का ज्ञान हो (ग) जहां मन तथा चक्षु आदि पांचों इन्द्रियाँ अपने विषय से सन्निकर्ष करके ज्ञान उत्पन्न करती हों, उसे सविकल्पक प्रत्यक्ष कहते हैं।

सविकल्पक प्रत्यक्ष के पुनः दो भेद होते हैं—१. लौकिक २. अलौकिक। लौकिक प्रत्यक्ष के पुनः दो प्रभेद होते हैं—१. बाह्य-लौकिक २. आभ्यन्तर-लौकिक।

बाह्य लौकिक प्रत्यक्ष—इसके पांच प्रभेद होते हैं जो पांचों ज्ञानेन्द्रियों से सम्बन्धित हैं जिनके लिये चरक ने "पञ्चेन्द्रिय-बुद्धयः" लिखा है। इनका विवेचन इस प्रकार है—१. घ्राणज प्रत्यक्ष—यह घ्राणेन्द्रिय द्वारा होता है एवं इससे गन्ध का ज्ञान होता है २. रसना-प्रत्यक्ष—यह रसनेन्द्रिय द्वारा होता है एवं इससे रस का प्रत्यक्ष होता है। ३. चाक्षुष प्रत्यक्ष—यह चक्षु के द्वारा होता है तथा इससे रूप का ज्ञान होता है ४.। त्वाची प्रत्यक्ष—यह स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा सम्पादित होता है तथा इससे स्पर्श का प्रत्यक्षीकरण होता है। ५. श्रोत्रेन्द्रिय प्रत्यक्ष—श्रोत्र के द्वारा होने वाला प्रत्यक्ष श्रोत्रेन्द्रिय प्रत्यक्ष कहलाता है। इसके द्वारा शब्द का ज्ञान होता है। **आभ्यन्तर प्रत्यक्ष**—इसे आत्मप्रत्यक्ष तथा मानसप्रत्यक्षकहते हैं। जिनके लिये चरक ने लिखा है—**सुखदुःखेच्छादयः" "एवं मनसा च मनोभवा"।**

लौकिक प्रत्यक्ष ज्ञान का हेतु सन्निकर्ष—

प्रत्यक्ष लक्षण में "सन्निकर्षात् प्रवर्तते" यह चरकीय वाक्य देख कर आये हैं; तदनुसार इन लौकिक प्रत्यक्ष के भेदों में भी सन्निकर्ष ज्ञेय है। जिसके निम्नोक्त ६ भेद होते हैं—

१. संयोग २. संयुक्तसमवाय ३. संयुक्तसमवेतसमवाय ४. समवाय ५. समवेतसमवाय ६. विशेषणविशेष्यभाव, जिनका वर्णन इस प्रकार है—

१. संयोग—चक्षु इन्द्रिय से घट का प्रत्यक्ष होना, संयोगसन्निकर्ष कहलाता है। **२. संयुक्तसमवाय**—पट के रंग का प्रत्यक्ष होना, संयुक्त-समवाय सन्निकर्ष कहलाता है। क्योंकि, यहां चक्षु से संयुक्त पट के साथ रंग का समवाय सम्बन्ध है। **३. संयुक्तसमवेतसमवाय**—पट के रंग का सामान्य रूप जो कि, चक्षुरिन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष किया जाता है, इसे संयुक्त समवेत समवाय-सन्निकर्ष कहते हैं। **४. समवाय**—कर्ण द्वारा शब्द का प्रत्यक्ष होना

समवाय सन्निकर्ष कहलाता है। ५. समवेतसमवाय— शब्द गुण के साक्षात्कार करने को समवेत समवाय सन्निकर्ष कहते हैं। ६. विशेषण-विशेष्य-भाव— अभाव का प्रत्यक्ष होना, विशेषण विशेष्य भाव सन्निकर्ष कहलाता है।

अलौकिक प्रत्यक्ष—यह तीन प्रकार का होता है— १. सामान्यलक्षणप्रत्यासत्ति २. ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्ति। ३. योगज।

१. सामान्यलक्षणप्रत्यासत्ति—जिस अलौकिक प्रत्यक्ष द्वारा किसी भी पदार्थ, जाति, अथवा विषय के एक भाग का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान होने पर भी उस सम्पूर्ण पदार्थ, जाति और विषय का सामान्यतया ज्ञान होता है, उसे सामान्य लक्षण प्रत्यासत्ति कहते हैं। जैसे–एक गाय का प्रत्यक्ष होने पर संसार की समस्त गायों या गोत्व जाति का सामान्य रूपेण ज्ञान हो जाता है। **२. ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्ति**—जिस अलौकिक प्रत्यक्ष से किसी भी वस्तु विशेष का बिना इन्द्रिय सन्निकर्ष के ही ज्ञान हो जाता है उसे ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्ति कहते हैं। क्योंकि यहां बिना इन्द्रियसन्निकर्ष के विषय विशेष के ज्ञान में ज्ञान ही कारण होता है; अतः, इसे ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्ति कहते हैं। जैसे— किसी बर्फ के टुकड़े को आंखों से देखकर ही त्वचा से जानने योग्य उसके शीतल गुण का ज्ञान हो जाता है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के विषय में भी जानना चाहिए।

३. योगज प्रत्यक्ष—यह एक प्रकार का असाधारण प्रत्यक्ष है। जो किन्हीं साधन विशेषों या अन्य विशिष्ट करणों से उत्पन्न नहीं होता; अपितु, जिसका प्रत्यक्ष योगीजनों को उनके समाधि बल से होता है। इस योगज-प्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष के बाधक भाव प्रभावित नहीं कर सकते; अपितु, यह देश-कालाबाधित और सभी वस्तुओं का यथार्थ ज्ञान कराने वाला होता है। इस प्रकार इसकी यह विशेषता है कि, जो ज्ञान के साधन बतलाये गये हैं, उनके द्वारा भी जहां ज्ञान नहीं हो सकता वहां पर योगज प्रत्यक्ष हो जाता है। यही इसकी उत्कृष्टता और उपादेयता है।

योगजप्रत्यक्ष के भेद—यह दो प्रकार का होता है—१. युक्त और २. युञ्जान।

युक्त—इसमें योगियों के द्वारा प्राप्त किया हुआ ज्ञान सदा

सर्वदा के लिए बना रहता है, तथा जिसे पुनः पुनः योग से जानने की आवश्यकता नहीं रहती। युञ्जान—इसमें समाधि द्वारा किसी भी वस्तु विशेष का ज्ञान होता है। परन्तु, यह चिन्तापरक माना गया है, अतः जब चिन्तन करके समाधि में ज्ञान किया जाता है तभी उसका ज्ञान रहता है; तदनन्तर वह ज्ञान नहीं हो पाता। जैसे कि, लिखा है—"योगजो द्विविधः प्रोक्तोयुक्तयुञ्जानभेदतः। युक्तस्य सर्वदा भानं, चिन्तासहकृतोऽपरः॥

योगज प्रत्यक्ष का महत्त्व—भौतिक जगत् और स्थूल भावों के ज्ञान के लिए प्रत्यक्ष-प्रमाण ही सर्वाधिक मान्य है। प्राच्य-पाश्चात्य सभी दार्शनिक प्रत्यक्ष-प्रमाण के महत्त्व को मतैक्य से स्वीकार करते हैं। परन्तु पूर्व में वर्णित "अतिदूरात्–सामीप्यात्" आदि बाधक भावों के कारण प्रत्यक्षप्रमाण सूक्ष्म व पुनर्भवादि परोक्ष भावों के ज्ञान में असमर्थ रहता है। आप्त और आप्तोपदेश के अभाव में सूक्ष्म और परोक्षभावों का ज्ञान असम्भव हो जाता है। क्योंकि, प्रत्यक्ष बाधकभावों से बाधित है, अनुमान प्रमाण प्रत्यक्षमूलक है, एवं अन्य प्रमाण इन तीनों प्रमाणों पर आश्रित हैं। ऐसी परिस्थिति में केवल योगज प्रत्यक्ष ही ज्ञान का साधक बनता है। जिन भावों का ज्ञान प्रत्यक्षाप्तोपदेशानुमानादि प्रमाणों से संभव नहीं होता, उनका ज्ञान केवल योगज प्रत्यक्ष द्वारा ही हो सकता है। इस प्रकार प्रमाण परम्परा में योग की यह (योगज प्रत्यक्ष) अनुपम देन है। शास्त्र और व्यवहार में जो भी मान्यतायें व परम्परायें सिद्धान्त रूपेण प्रचलित हैं, उनके दो ही आधार रहे हैं। १. ऐन्द्रियक-प्रत्यक्ष और योगज-प्रत्यक्ष। वैज्ञानिक विद्वान् सृष्टि से आज तक ऐन्द्रियक प्रत्यक्ष के आधार से अनेक प्रकार के सिद्धान्त स्थिर करते आ रहे हैं। परन्तु जहाँ इन वैज्ञानिकों की गति अवरुद्ध हुई वहाँ उन-उन महर्षियों ने तत्तत् तत्वों और विषयों का योगज-प्रत्यक्ष करके अनेक आश्चर्यजनक व अत्यन्त उपयोगी सिद्धान्तों का निर्माण किया। जिनसे आज भी भारतीय संस्कृति और साहित्य सम्पूरित है। जिसका दिग्दर्शन प्रथमाध्याय के पदार्थ परिज्ञान क्रम में "महर्षयस्ते ददृशुर्यथावज् ज्ञान चक्षुषा" से कर आये हैं।

विषय ग्रहण में मन का नियोजक हेतु आत्मा—

विषय ग्रहण में आत्मा के विना मन की प्रवृत्ति के निषेध हेतु "**आत्मना नियुज्यमानं मनः**" यह वाक्य लिखा गया है; क्यों कि, केवल आत्मा ही मन को विषयोपलब्धि के लिए नियुक्त करता है। यह एक सिद्धान्त पक्ष है, जिसका निर्देश करना आवश्यक था। इसी को चक्रपाणि ने "**आत्मा मनसा सम्बध्यते**" के द्वारा स्पष्ट किया है। "**श्रोत्राद्यन्यतमेन्द्रियाणाम्**" में "**अन्यतम**" से यह स्पष्ट हुआ है कि, प्रत्यक्ष क्रम में एक समय में एक इन्द्रिय द्वारा एक ही विषय को ग्रहण किया जाता है, न कि, एक से अधिक। तदात्वे से तात्कालिकी बुद्धि का ग्रहण होने हेतु स्मृति और अनुभवादि का निषेध हो जाता है, क्योंकि, ये पूर्वकालिक ज्ञान हैं। व्यक्ता के लिए अव्यभिचारिणी अव्यपदेश्या और व्यवसायात्मिका इन तीन विशेषणों को प्रस्तुत करते हुए संशय और भ्रम को प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं माना है, अपितु, निःसन्देह, निश्चयात्मक और सत्य ज्ञान ही प्रत्यक्ष प्रमाण है, यह सिद्ध किया है।

प्रत्यक्ष के बाधक भाव—

आत्मा-मन-इन्द्रियाँ और विषय के रहते हुए भी कुछ इस प्रकार के बाधक भाव उत्पन्न हो जाते हैं, जिनसे विषय का प्रत्यक्षीकरण नहीं हो पाता है, जैसा कि, आचार्य चरक ने लिखा है—"**सताञ्च रूपाणामतिसन्निकर्षात् अतिविप्रकर्षात्–आवरणात्–करणदौर्बल्यात्–मनोऽनवस्थानात्-समानाभिहारात् अभिभवात्—अतिसौक्ष्म्याच्च प्रत्यक्षानुपलब्धिः।**" च० सू० ११। इन कारणों के

सर्वदा के लिए बना रहता है, तथा जिसे पुनः पुनः योग से जानने की आवश्यकता नहीं रहती । युञ्जान—इसमें समाधि द्वारा किसी भी वस्तु विशेष का ज्ञान होता है । परन्तु, यह चिन्तापरक माना गया है, अतः जब चिन्तन करके समाधि में ज्ञान किया जाता है तभी उसका ज्ञान रहता है; तदनन्तर वह ज्ञान नहीं हो पाता । जैसे कि, लिखा है—योगजो द्विविधः प्रोक्तोयुक्तयुञ्जानभेदतः । युक्तस्य सर्वदा भान, चिन्तासहकृतोऽपरः ॥

योगज प्रत्यक्ष का महत्व—भौतिक जगत् और स्थूल भावों के ज्ञान के लिए प्रत्यक्ष-प्रमाण ही सर्वाधिक मान्य है । प्राच्य-पाश्चात्य सभी दार्शनिक प्रत्यक्ष-प्रमाण के महत्त्व को मतैक्य से स्वीकार करते हैं । परन्तु पूर्व में वर्णित "अतिदूरात्–सामीप्यात्" आदि बाधक भावों के कारण प्रत्यक्षप्रमाण सूक्ष्म व पुनर्भवादि परोक्ष भावों के ज्ञान में असमर्थ रहता है । आप्त और आप्तोपदेश के अभाव में सूक्ष्म और परोक्षभावों का ज्ञान असम्भव हो जाता है । क्योंकि, प्रत्यक्ष बाधकभावों से बाधित है, अनुमन प्रमाण प्रत्यक्षमूलक है, एवं अन्य प्रमाण इन तीनों प्रमाणों पर आश्रित हैं । ऐसी परिस्थिति में केवल योगज प्रत्यक्ष ही ज्ञान का साधक बनता है । जिन भावों का ज्ञान प्रत्यक्षाप्तोपदेशानुमानादि प्रमाणों से सम्भव नहीं होता, उनका ज्ञान केवल योगज प्रत्यक्ष द्वारा ही हो सकता है । इस प्रकार प्रमाण परम्परा में योग की यह (योगज प्रत्यक्ष) अनुपम देन है । शास्त्र और व्यवहार में जो भी मान्यतायें व परम्परायें सिद्धान्त रूपेण प्रचलित हैं, उनके दो ही आधार रहे हैं । १. ऐन्द्रियक-प्रत्यक्ष और योगज-प्रत्यक्ष । वैज्ञानिक विद्वान् सृष्टि से आज तक ऐन्द्रियक प्रत्यक्ष के आधार से अनेक प्रकार के सिद्धान्त स्थिर करते आ रहे हैं । परन्तु जहाँ इन वैज्ञानिकों की गति अवरुद्ध हुई वहाँ उन-उन महर्षियों ने तत्तत् तत्वों और विषयों का योगज-प्रत्यक्ष करके अनेक आश्चर्यजनक व अत्यन्त उपयोगी सिद्धान्तों का निर्माण किया । जिनसे आज भी भारतीय संस्कृति और साहित्य सम्पूरित है । जिसका दिग्दर्शन प्रथमाध्याय के पदार्थ परिज्ञान क्रम में "महर्षयस्ते ददृशुर्यथावज् ज्ञान चक्षुषा" से कर आये हैं ।

प्रत्यक्ष-प्रमाणचित्र—

- सविकल्पक
  - लौकिक
    - बाह्य
      - घ्राणज प्रत्यक्ष
      - रसना प्रत्यक्ष
      - चाक्षुष प्रत्यक्ष
      - श्रोत्रेन्द्रिय प्रत्यक्ष
      - त्वाची प्रत्यक्ष
      - बाह्य लौकिक प्रत्यक्ष ज्ञान का हेतु सन्निकर्ष
        - संयोग
        - संयुक्त-समवाय
        - संयुक्त-समवेत समवाय
        - समवाय
        - समवेत-समवाय
        - विशेषण-विशेष्य-भाव
    - आभ्यन्तर आत्म-प्रत्यक्ष मानस-प्रत्यक्ष
  - अलौकिक
    - सामान्यलक्षण-प्रत्यासत्ति
    - ज्ञानलक्षण-प्रत्यासत्ति
    - योगज-प्रत्यक्ष
      - युक्त
      - युञ्जान
- निर्विकल्पक

विषय ग्रहण में मन का नियोजक हेतु आत्मा—

विषय ग्रहण में आत्मा के विना मन की प्रवृत्ति के निषेध हेतु "आत्मना नियुज्यमानं मनः" यह वाक्य लिखा गया है; क्यों कि, केवल आत्मा ही मन को विषयोपलब्धि के लिए नियुक्त करता है। यह एक सिद्धान्त पक्ष है, जिसका निर्देश करना आवश्यक था। इसी को चक्रपाणि ने "आत्मा मनसा सम्बध्यते" के द्वारा स्पष्ट किया है। "श्रोत्राद्यन्यतमेन्द्रियाणाम्" में "अन्यतम" से यह स्पष्ट हुआ है कि, प्रत्यक्ष क्रम में एक समय में एक इन्द्रिय द्वारा एक ही विषय को ग्रहण किया जाता है, न कि, एक से अधिक। तदात्वे से तात्कालिकी बुद्धि का ग्रहण होने हेतु स्मृति और अनुभवादि का निषेध हो जाता है, क्योंकि, वे पूर्वकालिक ज्ञान हैं। व्यक्ता के लिए अव्यभिचारिणी अव्यपदेश्या और व्यवसायात्मिका इन तीन विशेषणों को प्रस्तुत करते हुए संशय और भ्रम को प्रयत्क्ष प्रमाण नहीं माना है, अपितु, निःसन्देह, निश्चयात्मक और सत्य-ज्ञान ही प्रयत्क्ष प्रमाण है, यह सिद्ध किया है।

प्रत्यक्ष के बाधक भाव—

आत्मा-मन-इन्द्रियाँ और विषय के रहते हुए भी कुछ इस प्रकार के बाधक भाव उत्पन्न हो जाते हैं, जिनसे विषय का प्रत्यक्षीकरण नहीं हो पाता है, जैसा कि, आचार्य चरक ने लिखा है—"सताञ्च रुपाणामतिसन्निकर्षात् अतिविप्रकर्षात्—आवरणात्—करणदौर्बल्यात्—मनोऽनवस्थानात्-समानाभिहारात् अभिभवात्—अतिसौक्ष्म्याच्च प्रत्यक्षानुपलब्धिः।" च० सू० ११। इन कारणों के द्वारा प्रत्यक्ष की उपलब्धि नहीं होती है, अतः इन्हें प्रत्यक्ष बाधक भाव कहते हैं। इस विषय को सांख्यकारिका में निम्नोक्त प्रकार प्रस्तुत किया गया है—"अतिदूरात्-सामीप्यात्-इन्द्रियाघातात्-मनोऽनवस्थानात् सौक्ष्म्यात्-व्यवधानात्-अभिभवात् समानाभिहाराच्च" सां० का० ८। इस प्रकार सांख्यकारिका में भी चरकाचार्य सम्मत आठ ही बाधक भावों का वर्णन प्राप्त होता है। जिनका विवेचन इस प्रकार है—१. अतिसामीप्यात्—अतिसन्निकर्षात् जैसे नेत्र में लगा हुआ कज्जल नेत्रेन्द्रिय से नहीं देखा जा सकता। २. अतिविप्रकर्षात्—अति दूरात्—जैसे आकाश में उड़ता हुआ पक्षी अति दूर चले जा

पर दिखाई नहीं देता। ३. **आवरणात्—व्यवधानात्**—किसी वस्तु को किसी से ढक दिया जावे या किसी वस्तु के मध्य में दीवार आदि होने पर उसका ज्ञान नहीं होता। ४. **करणदौर्बल्यात्—इन्द्रियाघातात्**—ज्ञान के माध्यमभूत इन्द्रियों की दुर्बलता या उनके नष्ट होने पर भी ज्ञान नहीं होता है। जैसे नेत्र में मोतियाबिन्द होने पर या नेत्रान्धता में दिखाई नहीं देता। बधिर को शब्द का प्रत्यक्षीकरण नहीं होता। ५. **मनोऽनवस्थानात्**—जिस इन्द्रिय से जिसविषय का ग्रहण होता है उस इन्द्रिय के साथ मन का संयोग नहीं होकर कहीं अन्यत्र संलग्न होने हेतु इन्द्रिय एवं इन्द्रियार्थ के विद्यमान होने पर भी उस विषय का प्रत्यक्ष नहीं होता। ६. **समानाभिहारात्**—गुडूची गोधूमादिकों के ढेर में पुनः गुडूची गोधूमादिकों के मिलाने पर उनका परस्पर भेदक ज्ञान नहीं होता। ७. **अभिभवात्**—जैसे सूर्य के प्रकाश में तारों के होते हुए भी वे दिखलाई नहीं देते। ८. **अतिसौक्ष्म्यात्**—संसार की अनेक सूक्ष्म वस्तुओं तथा अति सूक्ष्म परमाणुओं की सत्ता होते हुए भी इनका चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं हो पाता है। इस प्रकार उपर्युक्त आठ कारणों से प्रमेय के होते हुए भी उनका प्रत्यक्षीकरण नहीं होता है।

विविध यन्त्रादि द्वारा प्रत्यक्ष प्रमाण का ज्ञान—

प्रत्यक्ष के प्रकरण में यह लिखा जा चुका है, कि, यह ज्ञान इन्द्रिय मूलक होने से, इन्द्रियों में यदि दुर्बलता होती है तो उनसे यथेष्ट ज्ञान का सम्पादन नहीं होता है। इसी प्रकार इन्द्रियों की विषय ग्रहण शक्ति भी परिसीमित भाग तक ही रहती है। यदि इन दोनों स्थलों में अनेक प्रकार के यन्त्र जोकि, तत्तद् इन्द्रियों के उपयोगार्थ बनाये गये हैं, का उपयोग किया जाकर सफलता प्राप्त की जाती है। जैसे—चक्षुरिन्द्रिय की शक्ति संवर्धनार्थ ऐनक व अणुवीक्षण यन्त्र का उपयोग किया जाता है। वस्तुओं के मान व उनकी लम्बाई चौड़ाई नापने के लिये भी अनेक यन्त्रों का उपयोग किया जाकर इनसे वांछित ज्ञान प्राप्त किया जाता है। श्रोत्रेन्द्रिय की दुर्बलता से जहाँ दूर देश के शब्द या नीचे स्वर से उच्चारित किये गये शब्द का श्रवण सम्यक्तया नहीं होता है, वहाँ पर भी विविध यन्त्रों द्वारा श्रोत्रेन्द्रिय से उन उन शब्दों का प्रत्यक्षीकरण होता है। आतुर शरीरगत विविध ध्वनियों का

परिज्ञान स्टेथेस्कोप द्वारा किया जाता है। इस प्रकार का आज के इस वैज्ञानिक युग में नवनवाविष्कृत यन्त्रों से तत्तद् कार्यों में सफलता प्राप्त की जाती है।

प्रत्यक्ष प्रमाण के होते हुए भी अन्य प्रमाणों की आवश्यकता—

प्रत्यक्ष ही एक ऐसा प्रमाण है जिसको सभी दार्शनिकों ने एक स्वर से स्वीकार किया है। इसका अपना एक विशिष्ट स्थान है। क्योंकि, यह तात्कालिक ज्ञान क्रम में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। प्रत्यक्ष प्रमाण से प्रमाणित होने पर किसी भी व्यक्ति को किसी भी प्रकार का कोई संशय नहीं रहता है। अतः कहा गया है—"प्रत्यक्षे किं प्रमाणम्" अर्थात् प्रत्यक्ष में प्रमाण की क्या आवश्यकता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण के सार्वभौम महत्त्व को अङ्गीकार किया है। पुनरपि केवल प्रत्यक्ष प्रमाण मात्र से सभी प्रमेय वस्तुओं की सिद्धि संभव नहीं है, जिनके कारण नीचे लिखे जा रहे हैं—भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान इस प्रकार काल के तीन भेद किये हैं। इन सबमें पहले भूत का नाम लिया जाता है। अतः सर्व प्रथम भूत कालिक ज्ञान करना अपेक्षित है। जिसका ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से कथमपि संभव नहीं है। जैसाकि, "तदात्वे" से अर्थ स्पष्ट किया जा चुका है। दूसरा नाम भविष्यत् काल का लिया है। इसके ज्ञान में भी वही विप्रतिपत्ति उपस्थित होती है। इस प्रकार तीनों कालों में से दो काल जिनका विस्तार अनन्त है, उनका ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से कथमपि संभव नहीं होता है। इसलिए निश्चित ही आप्तोपदेश व अनुमानादि प्रमाणान्तरों की आवश्यकता रहेगी। तीसरे नम्बर पर वर्तमान काल का नाम आता है जो सर्वथा नगण्य है। क्योंकि, यह अत्यन्त सूक्ष्मातिसूक्ष्म या अल्पतम काल है। केवल इस एक काल के जानने से कोट्यंश विषय का भी ज्ञान नहीं हो सकता, अतः प्रत्यक्ष प्रमाण की अल्पज्ञता ही प्रमाणित होती है। "यरेव तावदिन्द्रियैः प्रत्यक्षमुपलभ्यते तान्येव सन्ति चाप्रत्यक्षाणि।" इस नियम के अनुसार जिन इन्द्रियों से हम प्रत्यक्षीकरण करते हैं, वे इन्द्रियाँ भी अप्रत्यक्ष हैं। जैसे—चक्षुरिन्द्रिय से जगत् के रूप का ज्ञान होते हुए भी स्वयं चक्षु का ज्ञान उस चक्षु से नहीं होता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष की सर्वत्र गति नहीं होती है।

भूतकालीन ज्ञान जानने के

अनुमान निरूपण—

निरुक्ति—अनु-पश्चात्, मीयते-निश्चीयते, तत्-अनुमानम् । इस प्रकार अनु और मान इन दो शब्दों से अनुमान का निर्माण हुआ है, जिसका अर्थ है—प्रत्यक्ष के अनन्तर होने वाले ज्ञान को अनुमान कहते हैं ।

लक्षण—१. "अनुमानं खलु तर्को युक्त्यपेक्षः ।" —च० वि०।४।

२—"प्रत्यक्षपूर्वं त्रिविधं त्रिकालञ्चानुमीयते ।
वह्निर्निगूढो धूमेन मैथुनं गर्भदर्शनात् ।।
एवं व्यवस्यन्त्यतीतं बीजात् फलमनागतम् ।
दृष्ट्वा बीजात् फलं जातमिहैव सदृशं बुधाः ।।" —चरक

३. "वस्तु यत्परोक्षं तदनुप्रत्यक्षात् यन्मीयते ज्ञायते तदनुमानम् ।'—गंगाधर । ४. "व्याप्तिग्रहणादनु-अनन्तरंमीयते सम्यक् निश्चीयते परीक्षार्थो येन तदनुमानम् ।"—चक्रपाणि । ५. "साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानम् ।" ६. "विज्ञातेऽर्थे कारणोपपत्ति-दर्शनात् अविज्ञातेऽपि तदवधारणं युक्तिः । युक्त्या कार्य-कारणभावोपपत्या अविज्ञातस्याप्यर्थस्य विज्ञानमनुमानम् ।"—उपस्कार । ७. "अनुपश्चादव्यभिचारिलिङ्गाल्लिङ्गी मीयते ज्ञायते येन तदनुमानम् ।" डल्हण । ८. "अनुमितिकरणमनुमानम् ।"—तर्क संग्रह । ९. "मितेन लिङ्गेनार्थस्य पश्चान्मानमनुमानम् ।"—वात्स्यायन । १०. "तल्लिङ्गिलिङ्गपूर्वकम् ।" न्यायवार्तिक । ११. "लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धजन्यत्वमनुमानम् ।"—गंगाधर । १२. "मितेन लिङ्गेनानुपश्चादर्थस्यमानमनुमानम् ।"—गंगाधर ।

अनुमान के लक्षण में तर्कसंग्रह, वात्स्यायन, न्यायवार्तिक आदि द्वारा प्रस्तुत विषय में कोई विशिष्टता प्रतीत नहीं होती जबकि, आचार्य डल्हण का लक्षण अव्यभिचारि (सर्वथा निर्दुष्ट) होने हेतु अधिक श्रेष्ठ और व्यवस्थित है। क्योंकि, इसमें प्रत्यक्ष के अनन्तर और लिङ्ग से लिङ्गी के ज्ञान का निर्देश किया है। चरकोपस्कार ने युक्ति के लक्षण के अनन्तर उसका आधार बनाकर अनुमान का व्याख्यान किया है। आचार्य चक्रपाणि ने व्याप्ति ग्रहण के अनन्तर अच्छी प्रकार से निश्चयात्मक ज्ञान को अनुमान

माना है । आचार्य चरक ने इसका त्रिविधत्व, त्रैकालिकत्व व प्रत्यक्ष पूर्वत्त्व का प्रदर्शन करते हुए सोदाहरण अनुमान के लक्षण को प्रस्तुत किया है । आचार्य गंगाधर ने अनुमान के भिन्न २ प्रकार से सर्वाधिक लक्षण किए हैं ।

अनुमान भेद—

चरकोपस्कार ने इसके पूर्ववत्, शेषवत्, और सामान्यतोदृष्ट, इस प्रकार तीन भेद किए हैं । इन्हीं तीनों का निर्देश अक्षपाद ने किया है । १. **पूर्ववत्**—जहां पर कारण से कार्य का अनुमान किया जाता है, उसे पूर्ववत् अनुमान कहते हैं । जैसे मेघ से वर्षा और बीज से फल का अनुमान होता है ! २. **शेषवत्**-जहां पर कार्य से कारण का अनुमान किया जाता है, उसे शेषवत् अनुमान कहते हैं। जैसे गर्भदर्शन से मैथुन तथा फल से बीज का अनुमान होता है । ३. **सामान्यतोदृष्ट**—(क) कार्य और कारण से भिन्न अनुमान को सामान्यतोदृष्ट कहते हैं । जैसे प्रातःकाल सूर्य पूर्व दिशा में उदित होकर सायंकाल पश्चिम दिशा में दिखाई देता है । इससे सूर्य के चलने का जो अनुमान होता है, उसे सामान्यतोदृष्ट कहते हैं । (ख) मीमांसक पूर्व से प्रधान तथा शेष से अंग को ग्रहण करते हैं । (ग) अन्वय मुख से सिद्ध होने वाले अनुमान को पूर्ववत् तथा व्यतिरेक द्वारा होने वाले को शेषवत् कहते हैं । (घ) सामान्यतोदृष्ट वहाँ होता है जहाँ किसी वस्तु विशेष के अस्तित्व की प्रतीति नहीं होकर उसके सामन्य स्वरूप का ही अवबोध होता है । उपर्युक्त तीनों अनुमानों के उदाहरण क्रमशः इस प्रकार हैं—१. धूम से अग्नि का अनुमान । २. रूप के द्रव्य और कर्म में समाविष्ट नहीं होने पर पारिशेष्याद् गुण रूप ही होना चाहिए, यह अनुमान किया गया । ३. इन्द्रियों की सत्ता का अनुमान ।

लिङ्गलिङ्गी—लिङ्ग और लिङ्गी के द्वारा अनुमान का विवेचन अपनी गंगाधर टीका में करते हैं और न्यायवार्तिक में भी इसका आश्रय लिया है । परन्तु न्यायवार्तिकोक्त उद्धरणों के साथ श्रीगंगाधर लिङ्ग पञ्चविध (हेतुपूर्वरूपरूपोपशयसम्प्राप्तिभेदेन भवति) यह लिखते हैं । इस विषय व इस प्रकार भी समझा जा सकता है १. लिङ्गलक्षण से लिङ्गी-व्याप्ति

का ज्ञान । २. लिङ्गी-व्याधिसे उसके लक्षणों का ज्ञान किया जाता है। यथा-"कुष्टविशेषै र्दोषा दोषविशेषैश्च पुनः कुष्ठानि ।" कापालमण्डल आदि कुष्ठविशेषों से वातादि दोषों का तथा वातादिदोषों के विशिष्ट लक्षणों से कापाल आदि कुष्टों का ज्ञान किया जाता है। लिङ्ग और लिङ्गी इन दोनों के जानने पर उसका अशेष विशेष रूप से परिज्ञान प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार व्याधिनिर्णयक्रम में लिङ्ग लिङ्गी का ज्ञान ही महत्वपूर्ण समझा गया है। कालभेद से अनुमान के तीन भेद होते हैं—१. अतीतकालिक अनुमान २. अनागत अनुमान ३. वर्तमानकालिक अनुमान । **अतीतकालिक अनुमान**—पाण्डु रोग को देखकर मृद्भक्षणादि कारणों का ज्ञान अतीतकालिक अनुमान कहलाता है। **अनागत अनुमान**—मक्षिका भक्षण से होने वाली छर्दि का अथवा बीज को देख कर फल का ज्ञान अनागत अनुमान कहलाता है। **वर्तमानकालिक अनुमान—"यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निः"**— इस लक्षण के अनुसार धूम को देखकर निगूढवह्नि के अनुमान को वर्तमान कालिक अनुमान कहते हैं।

अनुमान के पुनः दो भेद होते हैं-१. स्वार्थानुमान २. परार्थानुमान । **(१) स्वार्थानुमान**—अपनी अनुमिति के कारण को स्वार्थानुमान कहते हैं। जैसे-कोई व्यक्ति रसोईघर में जाकर वहाँ धूम और वह्नि इन दोनों को एक साथ देखकर इस निर्णय पर पहुँचता है कि, जहाँ जहाँ धूआं है; वहाँ वहाँ वह्नि होती है। इस ज्ञान को लेकर जब वही व्यक्ति किसी पर्वत के समीप जाकर वहाँ धूआं देखता है तब उक्त व्याप्ति का स्मरण करके उसे यह ज्ञान होता है कि, पर्वत पर अग्नि है। इस ज्ञान को लिङ्गपरामर्श कहते हैं। इस लिङ्गपरामर्श से ही यह ज्ञान हुआ कि—**"पर्वतोऽयं वह्निमान्"** यह पर्वत अग्नि वाला है। इसीको स्वार्थानुमान कहते हैं और यह अपने ज्ञान के लिए होता है। **(२) परार्थानुमान**—उक्त लिङ्गपरामर्श का आश्रय लेकर कोई भी व्यक्ति जब किसी अन्य व्यक्ति को ज्ञान कराता है तब उसे परार्थानुमान कहते हैं। परार्थानुमान की सिद्धि के लिए निम्नलिखित पाँच अवयवों का आश्रय लेना पड़ता है, अन्यथा परार्थानुमान की सिद्धि नहीं होती है।

अनुमिति—"परामर्शजन्यंज्ञानमनुमितिः" परामर्श से उत्पन्न हुए ज्ञान को अनुमिति कहते हैं--**व्याप्ति**—"यत्रयत्र धूमस्तत्रतत्राग्निरितिसाहचर्यनियमो-

व्याप्तिः।"–तर्क संग्रह। जहां जहां धूआं है वहाँ वहाँ अग्नि है। इस प्रकार के साहचर्य नियम को व्याप्ति कहते हैं। रसोई घर में पुनः पुनः यह देखा कि, यहाँ जब जब धूआं हुआ, तब तब वह्नि देखी गई। अतः यह निश्चित है कि, जहां धूआं होगा वहाँ अवश्य ही वह्नि होगी यही धूम और अग्नि के साहचर्य के ज्ञान का भी कारण हुआ। इसी के आधार पर जब पर्वत पर धूआं देखा गया तब वहाँ वह्नि का अनुमान कर लिया गया। पक्षधर्मता–"व्याप्यस्य पर्वतादिवृत्तित्वं पक्षधर्मता।"–तर्क संग्रहः। व्याप्य का पर्वत प्रभृति किसी भी स्थान पर प्राप्त होना पक्ष धर्मता कहलाता है। परामर्श–"व्याप्ति विशिष्ट-धर्मता ज्ञानं परामर्शः" तर्क संग्रहः। व्याप्ति सहित पक्ष धर्मता के ज्ञान को परामर्श कहते हैं। अन्वय–"तत्सत्वे तत्सत्वमन्वयः।" हेतु तथा साध्य के साहचर्य को अन्वय कहते हैं। व्यतिरेक–"तदभावे तदभावो व्यतिरेकः" साध्याभाव तथा हेत्वाभाव के साहचर्य को व्यतिरेक कहते हैं। इस प्रकार अन्वय सपक्ष में तथा व्यतिरेक विपक्ष में होता है। व्यभिचाराग्रह–उपर्युक्त दोनों में किसी प्रकार का व्यभिचार नहीं होना चाहिए। अन्वय और व्यतिरेक कभी ऐसा हेतु न हो, जो अन्वय में रहते हुए व्यतिरेक में और व्यतिरेक में रहते हुए अन्वय में चला जावे। इसको ही व्यभिचाराग्रह कहते हैं। जैसे–जहाँ जहाँ अग्नि है वहाँ वहाँ धूम है। यहां अग्नि लौह के गोले में रहते हुए भी धूम नहीं रहता, अतः इसे व्यभिचार कहेंगे। उपाधिनिरास–साध्य और साधनों के होने पर भी व्याप्ति की सिद्धि नहीं होती, जब तक उपाधि का निरास न हो। जब जब नल खोला जाता है, तब तब पानी आता है, यह व्याप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि, नल में पानी न होना व्याप्ति बाधक उपाधि है। अविज्ञात अर्थ में कारण और युक्ति के द्वारा तात्त्विक रूप से विचार करने को तर्क कहते हैं।

अहेतु–अनुमान की सिद्धि को पराश्रय हेतु ही माना गया है। इसके अभाव में अनुमान की सिद्धि कथमपि संभव नहीं है। यह सत् हेतु के आश्रित है न कि, असत् हेतु के। हेतु की व्याख्या की जा चुकी है। यहाँ अहेतु का परिचय प्रस्तुत करते हैं। तात्त्विक रूप से हेतु न होते हुए भी जो हेतुवत् प्रतीत होता है, उसे अहेतु कहते हैं। इसीलिए इसका दूसरा नाम हेत्वाभास है; क्योंकि,

व्याप्तिः ।"-तर्क संग्रह । जहां जहां धूआं है वहाँ वहाँ अग्नि है। इस प्रकार के साहचर्य नियम को व्याप्ति कहते हैं। रसोई घर में पुनः पुनः यह देखा कि, यहाँ जब जब धूआं हुआ, तब तब वह्नि देखी गई। अतः यह निश्चित है कि, जहां धूआं होगा वहाँ अवश्य ही वह्नि होगी यही धूम और अग्नि के साहचर्य के ज्ञान का भी कारण हुआ। इसी के आधार पर जब पर्वत पर धूआं देखा गया तब वहाँ वह्नि का अनुमान कर लिया गया। **पक्षधर्मता**—"व्याप्यस्य पर्वतादिवृत्तित्वं पक्षधर्मता।"-तर्क संग्रहः। व्याप्य का पर्वत प्रभृति किसी भी स्थान पर प्राप्त होना पक्ष धर्मता कहलाता है। **परामर्श**—"व्याप्ति विशिष्ट धर्मता ज्ञानं परामर्शः" तर्क संग्रहः। व्याप्ति सहित पक्ष धर्मता के ज्ञान को परामर्श कहते हैं। **अन्वय**—"तत्सत्वे तत्सत्वमन्वयः।" हेतु तथा साध्य के साहचर्य को अन्वय कहते हैं। **व्यतिरेक**—"तदभावे तदभावो व्यतिरेकः" साध्याभाव तथा हेत्वाभाव के साहचर्य को व्यतिरेक कहते हैं। इस प्रकार अन्वय सपक्ष में तथा व्यतिरेक विपक्ष में होता है। **व्यभिचाराग्रह**—उपर्युक्त दोनों में किसी प्रकार का व्यभिचार नहीं होना चाहिए। अन्वय और व्यतिरेक कभी ऐसा हेतु न हो, जो अन्वय में रहते हुए व्यतिरेक में और व्यतिरेक में रहते हुए अन्वय में चला जावे। इसको ही व्यभिचाराग्रह कहते हैं। जैसे-जहाँ जहाँ अग्नि है वहाँ वहाँ धूम है। यहाँ अग्नि लौह के गोले में रहते हुए भी धूम नहीं रहता, अतः इसे व्यभिचार कहेंगे। **उपाधिनिरास**—साध्य और साधनों के होने पर भी व्याप्ति की सिद्धि नहीं होती, जब तक उपाधि का निरास न हो। जब जब नल खोला जाता है, तब तब पानी आता है, यह व्याप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि, नल में पानी न होना व्याप्ति बाधक उपाधि है। अविज्ञात अर्थ में कारण और युक्ति के द्वारा तात्त्विक रूप से विचार करने को तर्क कहते हैं।

अहेतु—अनुमान की सिद्धि को पराश्रय हेतु ही माना गया है। इसके अभाव में अनुमान की सिद्धि कथमपि संभव नहीं है। यह सत् हेतु के आश्रित है न कि, असत् हेतु के। हेतु की व्याख्या की जा चुकी है। यहाँ अहेतु का परिचय प्रस्तुत करते हैं। तात्त्विक रूप से हेतु न होते हुए भी जो हेतुवत् प्रतीत होता है, उसे अहेतु कहते हैं। इसीलिए इसका दूसरा नाम हेत्वाभास है; क्योंकि,

इसका हेतु की भांति आभास मात्र ही होता है। जैसा कि, लिखा है—"अहेतवो हेत्वाभासाः"-चरक। "हेतुवदाभासन्ते इति हेत्वाभासाः" चक्रपाणि। अहेतु के भेद—१. चरक ने अहेतु के तीन भेद किए हैं—(१) प्रकरणसम (२) संशयसम, (३) वर्ण्यसम। २. जबकि गौतम ने इसके पांच भेदों का निरूपण प्रस्तुत किया है—(१) सव्यभिचारि, (२) विरुद्ध, (३) प्रकरणसम, (४) साध्यसम, (५) अतीतकाल। ३. न्यायदर्शन में पांच हेत्वाभास निर्दिष्ट किए हैं-(१) सव्यभिचार, (२) विरुद्ध, (३) सत्प्रतिपक्ष, (४) असिद्ध, (५) बाधित।

१. सव्यभिचार—"सव्यभिचारोऽनेकान्तिकः" अनेकान्तिक हेतु को सव्यभिचार कहते हैं। जो निश्चय रूप से अपने साध्य के साथ सदैव नहीं रहे; अपितु, कभी साध्य के साथ कभी असाध्य के साथ रहे; उसे सव्यभिचार हेतु कहते हैं। इसके तीन प्रकार माने गये हैं—साधारण, असाधारण, अनुपसंहारी। (१) साधारण व्यभिचार हेतु—जो हेतु साध्य के अभाव में भी प्राप्त होता है, उसे साधारण व्यभिचार हेतु कहते हैं। यथा—"पर्वतोऽयमग्निमान्प्रमेयत्वात्"। यहां पर पर्वत जलाशय में भी रह सकता है। अतः जो हेतु दिया गया है, वह अहेतु में भी घटित हो गया है। (२) असाधारण सव्यभिचार हेतु-यह हेतु केवल पक्ष में ही रहता है। जैसे—"शब्दो नित्यः"। यहाँ पर शब्दत्व केवल शब्द में ही रहता है, अन्यत्र नहीं। अतः शब्दत्व हेतु पक्ष (शब्द) में ही रहने के कारण यह असाधारण सव्यभिचार कहा जाता है। (३) अनुपसंहारी सव्यभिचार हेतु—अन्वय और व्यतिरेक के दृष्टान्त से रहित हेतु अनुपसंहारी सव्यभिचार हेतु कहलाता है। जैसे—"सर्वमनित्यम् प्रमेयत्वात्" प्रमेय होने से सभी अनित्य है। यहाँ पर सबकी अनित्यता सिद्ध करने के लिए प्रमेय होने से यह हेतु दिया गया है, जो कि, सपक्ष तथा विपक्ष दोनों में ही नहीं मिलता है। अतः यह हेतु "अन्वयव्यतिरेकदृष्टान्तरहितोऽनुपसंहारी" इस लक्षण को सर्वथा स्पष्ट करता है। **२. विरुद्ध हेत्वाभास**—"साध्याभावव्याप्तिहेतुर्विरुद्धः।" यथा—शब्दो नित्यः कृतकत्वात्। साध्य के अभाव में व्याप्त हेतु को विरुद्ध कहते हैं। जैसे—शब्द नित्य है उत्पन्न होने से। यहाँ शब्द का नित्यत्व साध्य है तथा इसकी सिद्धि के लिए कृतकत्व दिया गया है वह हेतु साध्य के विरुद्ध है;

क्योंकि, उत्पत्ति शील वस्तुएं कभी नित्य नहीं होती हैं। ३. सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास—"साध्याभावसाधकं हेत्वन्तरं यस्य सः प्रतिपक्षः। यथा शब्दः नित्यः श्रवणत्वात् शब्दवत्।" साध्य के अभाव का साधक अन्य हेतु भी जहां रहता हो उसे सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास कहते हैं। जैसे—शब्द नित्य है श्रवणत्व हेतु से शब्दत्व की भांति। यहां पर नित्यत्व सिद्धि हेतु श्रवणत्वात् हेतु दिया है किन्तु इसके विपरीत शब्दत्व के अनित्यत्व को सिद्ध करने वाला अन्य हेतु भी स्थित है जिससे शब्दत्व की नित्यत्व सिद्धि नहीं हो पाती है। ४. असिद्ध हेत्वाभास—जो हेतु अपने आप ही सिद्ध न होकर असिद्ध हो जाय वह असिद्ध हेत्वाभास कहलाता है। यह तीन प्रकार का होता है—(क) आश्रयासिद्ध (ख) स्वरूपासिद्ध (ग) व्याप्यत्वासिद्ध। (क) आश्रयासिद्ध हेत्वाभास—"यस्य हेतोः आश्रयः पक्षः असिद्धः स हेतु आश्रयासिद्धः।" जिसके हेतु तथा आश्रय की जहां असिद्धि होती हो वहां आश्रयासिद्ध हेत्वाभास कहलाता है। जैसे-गगनारविन्दं सुरभिः अरविन्दत्वात् सरोजारविन्दवत्। यहां आकाश कमल की सुगन्धि तथा इसकी सिद्धि के लिए अरविन्दत्व हेतु की कल्पना की गई है परन्तु आकाश में कमल होता ही नहीं, अतः आकाश कमल स्वयं असिद्ध होने से इसे आश्रयासिद्ध हेत्वाभास कहते हैं। (ख) स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास—"यो हेतु आश्रये-पक्षे नावगम्येत सः स्वरूपासिद्धः यथा-शब्दो नित्यश्चाक्षुषत्वात्।" शब्द नित्य होता है, आँखों से ग्रहण होने के कारण। यहाँ शब्द का नित्यत्व चाक्षुष प्रत्यक्ष होने से बतलाया गया है परन्तु शब्द कभी भी आंखों से नहीं सुना जाता है, अतः इसे स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास कहते हैं। (ग) व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास—"सोपाधिकोहेतुर्व्याप्यत्वाऽसिद्धः।" उपाधि सहित हेतु को व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास कहते हैं। ५. बाधित हेत्वाभास—"यस्य हेतोः साध्याभावः प्रकारान्तरेण निश्चितः स हेतुर्बाधितः यथावह्निः अष्णः द्रव्यत्वात्।" जिस हेतु के साध्य का अभाव प्रमाणान्तर से सिद्ध होता है, उसे बाधित हेत्वाभास कहते हैं। जैसे वह्नि शीतल है द्रव्य होने से। यहाँ वह्नि का अनुष्णत्व साध्य है परन्तु उसका अभाव उष्णत्व प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है। अतः यहाँ साध्य को सिद्ध करने हेतु प्रस्तुत किया गया हेतु प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है।

क्योंकि, उत्पत्ति शील वस्तुएं कभी नित्य नहीं होती हैं। ३. सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास—"साध्याभावसाधकं हेत्वन्तरं यस्य सः प्रतिपक्षः। यथा शब्दः नित्यः श्रवणत्वात् शब्दवत्।" साध्य के अभाव का साधक अन्य हेतु भी जहां रहता हो उसे सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास कहते हैं। जैसे—शब्द नित्य है श्रवणत्व हेतु से शब्दत्व की भांति। यहां पर नित्यत्व सिद्धि हेतु श्रवणत्वात् हेतु दिया है किन्तु इसके विपरीत शब्दत्व के अनित्यत्व को सिद्ध करने वाला अन्य हेतु भी स्थित है जिससे शब्दत्व की नित्यत्व सिद्धि नहीं हो पाती है। ४. असिद्ध हेत्वाभास—जो हेतु अपने आप ही सिद्ध न होकर असिद्ध हो जाय वह असिद्ध हेत्वाभास कहलाता है। यह तीन प्रकार का होता है—(क) आश्रयासिद्ध (ख) स्वरूपासिद्ध (ग) व्याप्यत्वासिद्ध। (क) आश्रयासिद्ध हेत्वाभास—"यस्य हेतोः आश्रयः पक्षः असिद्धः स हेतु आश्रयासिद्धः।" जिसके हेतु तथा आश्रय की जहां असिद्धि होती हो वहां आश्रयासिद्ध हेत्वाभास कहलाता है। जैसे-गगनारविन्दं सुरभिः अरविन्दत्वात् सरोजारविन्दवत्। यहां आकाश कमल की सुगन्धि तथा इसकी सिद्धि के लिए अरविन्दत्व हेतु की कल्पना की गई है परन्तु आकाश में कमल होता ही नहीं, अतः आकाश कमल स्वयं असिद्ध होने से इसे आश्रयासिद्ध हेत्वाभास कहते हैं। (ख) स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास—"यो हेतु आश्रये-पक्षे नावगम्येत सः स्वरूपासिद्धः यथा-शब्दो नित्यश्चाक्षुषत्वात्।" शब्द नित्य होता है, आंखों से ग्रहण होने के कारण। यहाँ शब्द का नित्यत्व चाक्षुष प्रत्यक्ष होने से बतलाया गया है परन्तु शब्द कभी भी आंखों से नहीं सुना जाता है, अतः इसे स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास कहते हैं। (ग) व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास—"सोपाधिकोहेतुर्व्याप्यत्वाऽसिद्धः।" उपाधि सहित हेतु को व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास कहते हैं। ५. बाधित हेत्वाभास—"यस्य हेतोः साध्याभावः प्रकारान्तरेण निश्चितः स हेतुर्बाधितः यथावह्निः अनुष्णः द्रव्यत्वात्।" जिस हेतु के साध्य का अभाव प्रमाणान्तर से सिद्ध होता है, उसे बाधित हेत्वाभास कहते हैं। जैसे वह्नि शीतल है द्रव्य होने से। यहां वह्नि का अनुष्णत्व साध्य है परन्तु उसका अभाव उष्णत्व प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है। अतः यहां साध्य को सिद्ध करने हेतु प्रस्तुत किया गया हेतु प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है।

गया है। अतः इसे बाधित हेत्वाभास कहते हैं। **पक्ष—"सन्दिग्ध-साध्यवान् पक्षः। यथा धूमवत्त्वे हेतौ पर्वतः"** जिसमें साध्य का सन्देह हो, उसे पक्ष कहते हैं। जैसे—धूम हेतु होने पर पर्वत पक्ष है। **सपक्ष—"निश्चित-साध्यवान् सपक्षः। यथा तत्रैव महानसम्।"** जिसमें साध्य का निश्चय हो उसे सपक्ष कहते हैं। "विपक्ष-निश्चितसाध्याभाववान् विपक्षः।" जिसमें साध्य के अभाव का निश्चय हो उसे विपक्ष कहते हैं।

पञ्चावयव के लिए पांच अवयवों की आवश्यकता होती है। इनका निरूपण इस प्रकार है—

१. प्रतिज्ञा—किसी की भी सिद्धि के लिए जो सिद्धान्तवाक्य कहा जाता है, उसे प्रतिज्ञा कहते हैं। जैसे—**"पर्वतोऽयं वह्निमान्"** यह पर्वत अग्नि वाला है। **२. हेतु**—किसी भी कार्य के कारण को हेतु कहते हैं। प्रतिज्ञात वाक्य या सिद्धान्त की सिद्धि के लिए कारण रूप में जिसे प्रस्तुत किया जाता हो, उसे हेतु कहते हैं। जैसे—**"धूआं होने से।"** इस कारण से प्रतिज्ञात वह्नि की सिद्धि की जाती है। **३. उदाहरण**—प्रतिज्ञात सिद्धान्त की सिद्धि के लिए सकारण तत्सदृश स्थान या वस्तु विशेष के निर्देश को उदाहरण कहते हैं। जैसे—उपर्युक्त प्रतिज्ञात वाक्य की सिद्धि हेतु **"रसोई घर में धूआं"** यह उदाहरण दिया जाता है। क्योंकि, जहाँ जहाँ धूआं है वहाँ वहाँ अग्नि है। अतः पर्वत में वह्नि की सिद्धि के लिए रसोई घर का उदाहरण प्रस्तुत करना पड़ा। **४. उपनय**—"यहाँ भी यही स्थिति है" इस प्रकार के प्रयोग को उपनय कहते हैं। **५. निगम**—निष्कर्ष या निर्णय को निगम कहते हैं। उक्त चारों प्रमाणों से यह निर्णय करना कि, इसीलिए यहाँ अग्नि है "निगम" कहलाता है। इस प्रकार उपर्युक्त पाँचों अवयवों से विज्ञात अर्थ को परार्थानुमान कहते हैं। उक्त पञ्चावयव वाक्यों में से परस्पर अन्तर्भाव भी किया जा सकता है। जैसे— निगमन का प्रतिज्ञा में। उदाहरण तथा उपनयन का व्याप्ति में अन्तर्भाव करने पर भी प्रतिज्ञा सिद्धान्त की सिद्धि की जा सकती है। वात्स्यायन परार्थानुमान की सिद्धि हेतु निम्न पांच अवयवों का व्याख्यान करते हैं—**१. जिज्ञासा २. संशय ३. शक्यप्राप्ति ४. प्रयोजन ५. संशयव्युदास।** पूर्वोक्त पञ्चावयव वाक्य से निःसन्देह ज्ञान हो जाता है। अतः इनके मानने

की कोई विशेष आवश्यकता नहीं है। इसी कारण इन का विस्तृत विवेचन भी यहाँ नहीं किया गया है।

लिङ्ग परामर्श—स्वार्थानुमान और परार्थानुमान की सिद्धि बिना लिङ्ग परामर्श के सम्भव नहीं है, अतः यह कहा जा सकता है कि लिङ्गपरामर्श ही अनुमान है। यह लिङ्ग तीन प्रकार का होता है—१. अन्वय-व्यतिरेकी २. केवलान्वयी। ३. केवल-व्यतिरेकी **१–अन्वय—व्यतिरेकी**—जिस लिङ्ग के साथ अन्वय तथा व्यतिरेक दोनों रहते हैं उसे अन्वय व्यतिरेक कहते हैं। यथा—जहाँ-जहाँ अग्नि है वहाँ वहाँ धूंआं तथा जहाँ-जहाँ धूंआं है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है। जैसे रसोई घर में। इसे अन्वय व्याप्ति कहते हैं। जहाँ अग्नि नहीं वहां धूआं भी नहीं होता जैसे तालाब, इसे व्यतिरेक व्याप्ति कहते हैं। तर्क संग्रह में इसका लक्षण इस प्रकार किया है—"अन्वयेन व्यतिरेकेण व्याप्तिमदन्वयव्यतिरेकी।'- **२. केवलान्वयी**—जिस लिङ्ग का केवल अन्वय से ही व्याप्ति सम्बन्ध हो उसे केवलान्वयी कहते हैं। "अन्वयमात्रव्याप्तिक केवलान्वयी—तर्क संग्रह। जैसे घर अभिधेय है, क्योंकि, वह प्रमेय है। जैसे पट। यहां व्यतिरेक व्याप्ति कभी भी घटित नहीं हो सकती क्योंकि जो प्रमेय होता है वही अभिधेय, जो अभिधेय होता है वही प्रमेय। इस प्रकार का उदाहरण होता ही नहीं जो प्रमेय तथा अभिधेय न हो। **३. केवल व्यतिरेकी**—**"व्यतिरेकमात्रव्याप्तिकं केवल–व्यतिरेकी"–तर्क संग्रहः।** जिस लिङ्ग के साथ केवल व्यतिरेक व्याप्ति ही होती हो और अन्वय व्याप्ति नहीं होती है उसका नाम केवल व्यतिरेकी लिङ्ग होता है। जैसे तेजो महाभूत अन्य तत्त्वों से भिन्न है, क्योंकि; इसका गुण रूप है। जो अन्यों से भिन्न नहीं वह रूप वाला भी नहीं, जैसे-गन्ध। यहां पर इस प्रकार की अन्वय व्याप्ति कि जो रूप वाला है वह अन्य तत्त्वों के विपक्ष या भिन्न है, नहीं मिल सकती, कारण कि, तेजो महाभूत के अतिरिक्त और कोई इस व्याप्ति का उदाहरण प्राप्त ही नहीं होता है। केवल तेजो महाभूत ही इस प्रकार का तत्व है जो रूप गुण वाला है।

५. अनुमान प्रमाण की प्रयोगाधिक्यता और उसका महत्व—

१. प्रत्यक्ष, आप्तोपदेश और युक्ति के कई क्षेत्रों में अनुमान का प्रवेश

की कोई विशेष आवश्यकता नहीं है। इसी कारण इन का विस्तृत विवेचन भी यहाँ नहीं किया गया है।

लिङ्ग परामर्श—स्वार्थानुमान और परार्थानुमान की सिद्धि बिना लिङ्ग परामर्श के सम्भव नहीं है, अतः यह कहा जा सकता है कि लिङ्गपरामर्श ही अनुमान है। यह लिङ्ग तीन प्रकार का होता है—१. अन्वय-व्यतिरेकी २. केवलान्वयी। ३. केवल-व्यतिरेकी **१—अन्वय—व्यतिरेकी**—जिस लिङ्ग के साथ अन्वय तथा व्यतिरेक दोनों रहते हैं उसे अन्वय व्यतिरेक कहते हैं। यथा—जहाँ-जहाँ अग्नि है वहां वहां धूंआं तथा जहां-जहां धूंआ है वहां-वहां अग्नि होती है। जैसे रसोई घर में। इसे अन्वय व्याप्ति कहते हैं। जहां अग्नि नहीं वहां धूआं भी नहीं होता जैसे तालाब, इसे व्यतिरेक व्याप्ति कहते हैं। तर्क संग्रह में इसका लक्षण इस प्रकार किया है—"अन्वयेन व्यतिरेकेण व्याप्तिमदन्वयव्यतिरेकी।'- **२. केवलान्वयी**—जिस लिङ्ग का केवल अन्वय से ही व्याप्ति सम्बन्ध हो उसे केवलान्वयी कहते हैं। "अन्वयमात्रव्याप्तिकं केवलान्वयी—तर्क संग्रह। जैसे घर अभिधेय है, क्योंकि, वह प्रमेय है। जैसे पट। यहां व्यतिरेक व्याप्ति कभी भी घटित नहीं हो सकती क्योंकि जो प्रमेय होता है वही अभिधेय, जो अभिधेय होता है वही प्रमेय। इस प्रकार का उदाहरण होता ही नहीं जो प्रमेय तथा अभिधेय न हो। **३. केवल व्यतिरेकी**—**"व्यतिरेकमात्रव्याप्तिकं केवल–व्यतिरेकी"–तर्क संग्रहः**। जिस लिङ्ग के साथ केवल व्यतिरेक व्याप्ति ही होती हो और अन्वय व्याप्ति नहीं होती हो उसका नाम केवल व्यतिरेकी लिङ्ग होता है। जैसे तेजो महाभूत अन्य तत्त्वों से भिन्न है, क्योंकि; इसका गुण रूप है। जो अन्यों से भिन्न नहीं वह रूप वाला भी नहीं, जैसे-गन्ध। यहां पर इस प्रकार की अन्वय व्याप्ति कि जो रूप वाला है वह अन्य तत्त्वों के विपक्ष या भिन्न है, नहीं मिल सकती, कारण कि, तेजो महाभूत के अतिरिक्त और कोई इस व्याप्ति का उदाहरण प्राप्त ही नहीं होता है। केवल तेजो महाभूत ही इस प्रकार का तत्व है जो रूप गुण वाला है।

अनुमान प्रमाण की प्रयोगाधिक्यता और उसका महत्व—

१. प्रत्यक्ष, आप्तोपदेश और युक्ति के कई क्षेत्रों में अनुमान का प्रवेश

होता है जिससे उस विषय का अधिक स्पष्ट तथा निःसन्देह ज्ञान हो जाता है। २. प्रत्यक्ष केवल वर्तमानकालिक घटनाओं का अवबोध कराता है जबकि अतीत और अनागत दोनों ही काल अति विस्तृत तथा आवश्यक रूपेण ज्ञेय होते हैं। इनका ज्ञान अनुमान द्वारा किया जाता है। इस व्याधि का पूर्वकालिक इतिहास तथा इसके क्या कारण रहे हैं ? यह सब अनुमान द्वारा ज्ञेय होता है और इन्हीं दोनों द्वारा व्याधि का परिचय एवं तदनुसार भेषज का निर्धारण किया जाता है। ३. इस प्रकार के पथ्यात्मक आहार विहारोपयोग से इस व्याधि का विनाश इतने दिनों में और इस क्रम से होगा तथा इस प्रकार के अपथ्य के सेवन से इस व्याधि का प्रकोप तत्तत् क्रम से होगा तथा इतने दिनों में रोगी का मरण भी हो जावेगा। उक्त सभी तथ्यों का परिचय अनुमान से होता है। ४. पूर्व जन्म हुआ है और पुनर्जन्म होगा, इसका ज्ञान भी अनुमान पर आधारित है। प्रत्यक्षोपमानादि प्रमाणों द्वारा इन दोनों का अप्रत्यक्ष होने से ज्ञान नहीं होता है। आयुर्वेद इनको स्वीकार करता है तथा विप्रकृष्ट निदान को मान कर उसका तदनुरूप निराकरण एवं पुनर्जन्म में सुख की प्राप्ति तथा दुःखों की अप्राप्ति के अनुष्ठान भी बतलाता है। ५. अज्ञात अवर्णित द्रव्यों और रोगों के निर्णय में अनुमान भी अपनी निजी भूमिका निभाता है।

६. "आतुरस्यान्तरात्मानं यो नाविशति रोगवित्।
ज्ञानबुद्धिप्रदीपेन न स रोगांश्चिकित्सति ॥" —चरक

आतुर की अन्तरात्मा में प्रवेश करने का यह क्रम अनुमान पर ही अवलम्बित है। क्योंकि, अन्य प्रमाणों की प्रसक्ति नहीं होने पर अनुमान के द्वारा ही आतुरशरीर गत सभी विकृताविकृत भाव जाने जा सकते हैं। दोष दूष्यों का सम्मूर्च्छन किस प्रकार और कहाँ हुआ, उससे व्याधि की उत्पत्ति किस क्रम से हुई आदि सभीज्ञेय अनुमानान्तर्गत ही माने जाते हैं। ७. संसार में अनेक वस्तुओं तथा उनकी विविध विशिष्टाविशिष्ट क्रियायें भी अनादिकाल से होती रही हैं और आगे भी इनका यह क्रम चलत ही रहेगा। इनके इस ज्ञान को प्रत्यक्षादि प्रमाणों से नहीं जाना जाता, जो कि अनुमान से ज्ञेय होता है। अनुमान प्रमाण जहाँ प्रत्यक्ष का आधार लेने पर गौणत्व को प्राप्त होता है वहाँ

अर्थापत्ति संभव और ऐतिह्यादि प्रमाणों का आधार होने से प्रधानत्व को भी प्राप्त हो जाता है। ८. अनुमान के द्वारा यह जाना जाता है कि शरीर प्रतिक्षण क्षीयमाण होता रहता है और वह समान भावों के अभ्यास से वर्द्धन तथा असमान भावाभ्यास से क्षपण को भी प्राप्त होता रहता है। इसीलिए आयुर्वेद निरन्तर पथ्यानुशीलन और अपथ्य के परित्याग का निर्देश देता है। ९. उत्पत्तिशील वस्तुयें अपनी परिणाम परम्परा से विनाश को प्राप्त होती रहती हैं इसी से अनुमान होता है कि यह संसार भी विनाश को प्राप्त होगा। यथा—

> "युगे युगे धर्मपादः क्रमेणानेन हीयते।
> युगपादश्च भूतानामेवं लोकः प्रलीयते ॥" —चरक

इस प्रकार जिसकी उत्पत्ति है, उसका विनाश तथा विनष्ट वस्तु का पुनः उत्पन्न होना आदि दार्शनिक भावों का ज्ञान भी अनुमान द्वारा होता है। १०. आचार्य चरक नें लिखा है कि, और अन्य भाव भी इसी प्रकार अनुमान से जानने योग्य होते हैं। यथा—"इमे तु खल्वन्येऽप्येवमेव भूयोऽनुमानज्ञेयाः भवन्ति भावाः। तद्यथा–अग्निं जरणशक्त्या परीक्षेत, बलं व्यायामशक्त्या, श्रोत्रादीनि शब्दाद्यर्थ–ग्रहणेन, मनोऽर्था व्यभिचरणेन, विज्ञानं व्यवसायेन, रजः सङ्गेन, मोहमविज्ञानेन, क्रोधमभिद्रोहेण, शोकं दैन्येन, हर्षमामोदेन, प्रीतिं तोषेण, भयं विषादेन, धैर्यमविषादेन, वीर्यमुत्थानेन, अवस्थानमविभ्रमेण, श्रद्धामभिप्रायेण, मेधां ग्रहणेन, संज्ञां नामग्रहणेन, स्मृतिं स्मरणेन, ह्रियमपत्रपणेन, शीलमनुशीलनेन, द्वेषं प्रतिषेधेन, उपधिमनुबन्धेन, धृतिमलौल्येन, वश्यतां विधेयतया, वयोभक्तिसात्म्यव्याधिसमुत्थानानि कालदेशोपशयवेदनाविशेषेण गूढलिङ्गं व्याधिमुपशयानुपशयाभ्यां, दोषप्रमाणविशेषमपचारविशेषेण, आयुषः क्षयमरिष्टैः, उपस्थितश्रेयस्त्वं कल्याणाभिनिवेशेन, अमलं सत्वमविकारेण ग्रहण्यास्तुमृदुदारुणत्वं स्वप्नदर्शनाभिप्रायं द्विष्टेष्टसुखदुःखानिचातुरपरिप्रश्नेनैव विद्यादिति।" —चरक वि.।४।८।

आचार्य चरक के मत में अनुमान—

नैयायिकों के मत में अविनाभाव सम्बन्ध या नियमित साहचर्य है

रहने वाले कार्य कारण की व्याप्ति का ज्ञान हो जाने पर पर्वतादि पक्ष में जब कोई एक वस्तु दिखाई देती है तो उस व्याप्ति के स्मरण से न दिखाई देने वाली वस्तु का अनुमान कर लिया जाता है। आचार्य चरक अविनाभाव या साहचर्यजन्य व्याप्ति परामर्श से ही उत्पन्न होने वाले ज्ञान को अनुमान नहीं मानते या यह भी सम्भव है कि, अनुमान का यह परिष्कृत लक्षण भी आचार्य चरक के वाद में उत्पन्न हुआ हो। चरक के मत में दृष्ट कार्यों से अदृष्ट कारणों का अनुमान अन्यत्र किसी दृष्ट कारण कार्य समुच्चय के दृष्टान्त से किया जाता है। जैसे–मथ्य, मंथन, मन्थान, और मंथन क्रिया तथा इस दृष्ट कारण कार्य समुच्चय से चिकित्सा के अदृष्ट कारण समुच्चय का अनुमान हो जाता है। जैसा कि पूर्वकाल में किसी कुष्ठी को देखा हो और कालान्तर के बाद यदि हम उसके निवृत्त कुष्ठ देखें तो उसकी चतुष्पाद चिकित्सा का स्वतः ही अनुमान हो जाता है। इस प्रकार यहां दृष्टान्त से अनुमान होता है न कि व्याप्ति से। व्याप्ति स्थान में जहां यत्र-यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्नि में जहां सप्तम्यन्त यत्तद् शब्द के साथ होने वाले त्रल् प्रत्ययान्त अव्यय प्रयोग होता है वहाँ दृष्टान्त से होने वाले अनुमान में तृतीयान्त यत्तद् शब्द के साथ में प्रकारकता अर्थ में होने वाले या प्रत्ययान्त अव्यय का प्रयोग होता है। जैसे—**व्याप्तिः- यत्र-यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निः।** अनुमान का जिस प्रकार स्पष्ट-निर्दिष्ट विस्तृत और व्यवस्थित लक्षण आचार्य चक्रपाणि ने किया है वैसा किसी अन्य दार्शनिक ने नहीं किया। इनके द्वारा प्रस्तुत अनुमान लक्षण की दो विशेषतायें हैं—१. **युक्त्यपेक्ष**—युक्ति के आधार को मानकर अनुमान का निर्धारण करना इसको और अधिक हृदयङ्गम एवं स्पष्ट बना दिया है, क्योंकि, युक्ति एक ऐसा प्रमाण है जिसके द्वारा मूर्ख तथा पूर्ण पूर्वाग्रही भी समझ लेता है। २. दूसरी विशेषता व्याप्ति ग्रहण के अनन्तर जिसके सम्यक् रुपेण परीक्षा विषय का निश्चय किया जावे उसे अनुमान कहते हैं। इस अर्थ में भी व्याप्ति ग्रहण तथा निश्चय ये दोनों ही विशिष्ट महत्व रखते हैं। दृष्टान्त—**"मथ्यमन्थनमंथानसंयोगादग्निसंभवः"** तथा–**"भिषग् द्रव्याण्युपस्थाता"** और **"आतुर-संयोगात् व्याधिनिबर्हण संभवः।"** इसीलिये आचार्य चरक ने अनुमान का लक्षण **"युक्त्वपेक्षस्तर्कोऽनुमानम्"** किया है।

आप्त-निरूपण

आप्तलक्षण—

१. **"आप्ता हि-अवितर्क-स्मृति-विभाग-विदोनिष्प्रीत्युपतापदर्शिनश्च।" च० वि०।४।३।** आप्त व्यक्ति अवितर्क एवं स्मृति के विभाग को जानने वाले तथा राग द्वेष रहित होकर देखने वाले होते हैं। विशेष—तीन प्रकार के ज्ञान उपलब्ध होते हैं—१. वितर्क ज्ञान-यथा-"स्थाणुर्वापुरुषोवा" का २. स्मार्त ज्ञान जो परम्परयाश्रुत सन्दर्भों के स्मरण से उत्पन्न होता हो। ३. अनुभव ज्ञान—जो प्रत्यक्षतः आत्मेन्द्रिय मनोऽर्थ संयोग से उत्पन्न हो। इन तीनों प्रकार के ज्ञानों में वितर्क ज्ञान और अविभक्त स्मृति ज्ञान को आप्तत्व साधक न मानकर आचार्य निजी अनुभव को ही आप्तत्व हेतु मानते हैं। इसलिए वे कहते हैं कि- **"अवितर्कस्मृति-विभाग-विदः"**—अवितर्क और स्मृति के विभाग को जानने वाले अथ च पारिशेष्यात्—अनुभव सिद्ध आप्त होते हैं। स्मृति भी दो प्रकार की होती है (१) **"परानुभूता श्रुतार्था, (२) स्वानुभूतार्था च"** उपर्युक्त अवतरणिका में परानुभूता श्रुतार्था स्मृति आप्तत्व की बाधक है, जबकि स्वानुभूतार्था स्मृति अनुभवात्मक ज्ञान होने से आप्तत्व की साधक है। **"निष्प्रीत्युपताप दर्शिनश्च"** यह आप्तत्व की दूसरी अनिवार्य योग्यता है—अर्थात् जो आप्त हों उनको किसी एक पक्ष से लगाव-सम्बन्ध या प्रीति नहीं होनी चाहिए। इसके साथ साथ यह भी आवश्यक है कि, आप्त को किसी "उपताप" जनन ईर्ष्या-असूया आदि जन्य विद्वेष भी नहीं होना चाहिए, प्रीति और विद्वेष दोनों ही आप्तत्व के बाधक हैं। अतः आचार्य कहते हैं कि "जो आप्त हो, उनको किसी भी व्यक्ति या वस्तु जगत् को प्रेम और बैर की दृष्टि से नहीं देखना चाहिए। २. **"यथार्थदर्शीनिर्दोषश्चाप्तो भवति।"** —**चक्रपाणिः** इस प्रकार आचार्य चक्रपाणि आप्त का संक्षिप्त लक्षण कहते हैं। जो कि, आचार्य चरक के लक्षण का ही सरलीकरण मात्र है। उन्होंने अवितर्क इस वाक्यांश द्वारा जैसाकि, हमने ऊपर स्पष्ट किया है यथार्थानुभव को आवश्यक माना है को चक्रपाणि भी यथार्थानुभव को ही आप्त की अनिवार्य अर्हता मानते हुए सरल शब्दों में कहते हैं "यथार्थदर्शी"। इसी प्रकार चरक के पूर्व व्याख्यान आप्त

आप्त-निरूपण

आप्तलक्षण—

१. **"आप्ता हि–अवितर्क-स्मृति-विभाग-विदोनिष्प्रीत्युपतापदर्शिनश्च ।" च० वि०।४।३।** आप्त व्यक्ति अवितर्क एवं स्मृति के विभाग को जानने वाले तथा राग द्वेष रहित होकर देखने वाले होते हैं। विशेष—तीन प्रकार के ज्ञान उपलब्ध होते हैं–१. वितर्क ज्ञान–यथा–"स्थाणुर्वापुरुषोवा" का २. स्मार्त ज्ञान जो परम्परयाश्रुत सन्दर्भों के स्मरण से उत्पन्न होता हो। ३. अनुभव ज्ञान–जो प्रत्यक्षतः आत्मेन्द्रिय मनोऽर्थ संयोग से उत्पन्न हो। इन तीनों प्रकार के ज्ञानों में वितर्क ज्ञान और अविभक्त स्मृति ज्ञान को आप्तत्व साधक न मानकर आचार्य निजी अनुभव को ही आप्तत्व हेतु मानते हैं। इसलिए वे कहते है कि- **"अवितर्कस्मृति-विभाग-विदः"**—अवितर्क और स्मृति के विभाग को जानने वाले अथ च पारिशेष्यात्–अनुभव सिद्ध आप्त होते हैं। स्मृति भी दो प्रकार की होती है (१) **"परानुभूता श्रुतार्था, (२) स्वानुभूतार्था च"** उपर्युक्त अवतरणिका में परानुभूता श्रुतार्था स्मृति आप्तत्व की बाधक है, जबकि स्वानुभूतार्था स्मृति अनुभवात्मक ज्ञान होने से आप्तत्व की साधक है। **"निष्प्रीत्युपताप दर्शिनश्च"** यह आप्तत्व की दूसरी अनिवार्य योग्यता है—अर्थात् जो आप्त हो उनको किसी एक पक्ष से लगाव-सम्बन्ध या प्रीति नहीं होनी चाहिए। इसके साथ साथ यह भी आवश्यक है कि, आप्त को किसी "उपताप" जनन ईर्ष्या- असूया आदि जन्य विद्वेष भी नहीं होना चाहिए, प्रीति और विद्वेष दोनों ही आप्तत्व के बाधक हैं। अतः आचार्य कहते हैं कि "जो आप्त हो, उनको किसी भी व्यक्ति या वस्तु जगत् को प्रेम और बैर की दृष्टि से नहीं देखना चाहिए। २. **"यथार्थदर्शीनिर्दोषश्चाप्तो भवति ।" —चक्रपाणिः** इस प्रकार आचार्य चक्रपाणि आप्त का संक्षिप्त लक्षण कहते हैं। जो कि, आचार्य चरक के लक्षण का ही सरलीकरण मात्र है। उन्होंने अवितर्क इस वाक्यांश द्वारा जैसाकि, हमने ऊपर स्पष्ट किया है यथार्थानुभव को आवश्यक माना है और चक्रपाणि भी यथार्थानुभव को ही आप्त की अनिवार्य अर्हता मानते हुए सरल शब्दों में कहते हैं **"यथार्थदर्शी"**। इसी प्रकार चरक के पूर्व व्याख्यान आप्त

व्याघातकर प्रीति और वैर को सरलीकृत शब्दों में दोष शब्द से व्यवहृत कर चक्रपाणि कहते हैं—निर्दोषश्च"।

३. "रजस्तमोभ्यां निर्मुक्ता स्तपो ज्ञानबलेन ये।
येषां त्रिकालममलं ज्ञानमव्याहृतं सदा॥
आप्ताः शिष्टा विबुद्धास्ते तेषां वाक्यमसंशयम्।
सत्यं वक्ष्यन्ति, ते कस्मादसत्यं नीरजस्तमाः॥" —च०सू०।११

जो तपस्या एवं ज्ञान बल से रज और तम से मुक्त हो गये हों, जिन्हें तीनों कालों का ज्ञान निर्बाध रूप से होता हो एवं जिनकी ज्ञान शक्ति कभी भी रुकती नहीं; उनको आप्त शिष्ट एवं विबुद्ध कहते हैं। इनके वचन संशय रहित होते हैं। रज और तम से शून्य होने के कारण वे सदा ही सत्य बोलते हैं। रज और तम से शून्य होने के कारण वे असत्य बोलेंगे भी कैसे?

४: "अवितर्केण; वितर्क-उहापोहात्मकं, वितर्कं विना सदैवाऽविच्छेदेन, युक्तज्ञानेन, त्रैकालिकानां सर्वेषामेव भावानां तत्त्वेन स्मृत्या विभागं सदसद्-रूपवत्वं वदन्ति ये ते अवितर्कस्मृतिविभागविद आप्ताः। प्रीत्युपतापाभ्यां निर्गताः निष्प्रीत्युपतापाः। ये द्रष्टुं शीलवन्तस्तेत्वाप्ताः।"—गंगाधरः।

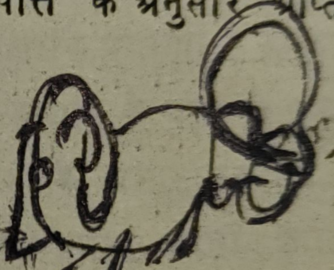
जो ऊहापोहात्मकतर्क से शून्य अविच्छिन्न ज्ञान से तीनों कालों में सत्तावान् सम्पूर्ण पदार्थों के सदसद् रूप को जानते हैं एवं जो प्रीति और उपताप से रहित होकर विश्व को देखते हैं; उनको आप्त कहते हैं।

५. "आप्ता हि—अवितर्कः यथा तथा स्मृतीनां शास्त्राणां विभागं विध्यर्थ-वादानुवाद-वचन-रूपं विदन्ति येते तथोक्ताः। नस्तः प्रीत्युपतापौ यत्र तद् तथा तथा द्रष्टुं भूतानि शीलमेषान्ते आप्ताः।"—चरकोपस्कार।

आचार्य चरक के आप्त लक्षण का व्याख्यान करते हुए उपस्कार के लेखक कहते हैं कि, जो "शास्त्रों के जैसे के जैसे विध्यर्थवादानुवाद आदि अर्थों को तर्क रहित निःशंक होकर जानते हैं ऐसे व्युत्पन्न विद्वान् तथा जो किसी के प्रेम और उपताप दर्शन के लिये भी उपलब्ध नहीं हों, उनको आप्त कहते हैं।

६. "साक्षात्करणमर्थस्याप्तिस्तया प्रवर्त्तन्ते इत्याप्ताः।" —उपस्कार।

अर्थ के साक्षात्करण को आप्ति कहते हैं तथा उससे जो प्रवर्तित होते हैं उन्हें आप्त कहते हैं। ७. "आप्तास्तत्त्वार्थवेदिनः।" —डल्हणः। तत्त्वार्थ को जानने वाले आप्त होते हैं। ८. "आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्मा यथा-दृष्टस्यार्थस्य चिख्यापयिषया प्रयोक्ता उपदेष्टा।"—न्याय वार्तिक। आप्तव्यक्ति साक्षात् कृतधर्मा होते हैं और यथादृष्ट विषय का अन्य व्यक्तियों को ज्ञान कराने की इच्छा से उपदेश करते हैं। ९. इसी प्रकार का लक्षण वात्स्यायन ने किया है—"आप्तः खलु साक्षात् कृतधर्मा यथा दृष्टमर्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्त उपदेष्टा"। १०. "आगमयति बोधयति सूक्ष्मविप्रकृष्टानर्थानित्यागमः।" —चक्रपाणि। जो दूर के सूक्ष्म गम्भीर अर्थों का अवबोध करावे वह आगम कहलाता है। "अनेन आप्तवचनं निर्दोषं वाक्यं लक्ष्यते। निर्दोषिता च वेदस्यापौरुषेयत्वादेव" —चक्रपाणिः। इस व्युत्पत्ति के अनुसार आप्त वचन निर्दोषवाक्य को कहते हैं।



आप्तोपदेश निरूपण

आप्तोपदेशलक्षण—

१. "तत्र आप्तोपदेशो नाम आप्तवचनम्····तेषामेव गुणयोगाद् वचनं तत्प्रमाणम्"।—च०वि०।४। आप्तों के उपदेश को आप्तवचन कहते हैं उनके ही उक्त प्रकार के गुणों के कारण कहे हुए वचन प्रमाणभूत माने जाते हैं। २. "ऐतिह्यं नामाप्तोपदेशो वेदादिः"।—च०वि०।८। ऐतिह्य आप्तोपदेश को कहते हैं; जैसे–वेद आदि। ३. "तेषां वाक्यमसंशयम्"—च०सू०।११। उन आप्तों के वाक्य सन्देह रहित होते हैं। अतः प्रमाणभूत माने जाते हैं। ४. "आप्तवचनं वेदादिकमिह वक्ष्यते"। —गंगाधरः। यहाँ पर आप्त वचन शब्द से वेदादिक कहे जाते हैं। ५. "आगमो वेदः आप्तानां शास्त्रं वा।" डल्हणः। आगम और वेद एक ही हैं अथवा आप्तों के शास्त्र को वेद या आगम कहते हैं। ६. "सिद्धं सिद्धैः प्रमाणैस्तु। हितञ्चात्र परत्र च आगमः शास्त्रमाप्तानाम्।" —डल्हण। प्रसिद्धप्रमाणों से सिद्ध (प्रमाणीभूत किया हुआ जो कि, इहलोक और परलोक दोनों में हितकर हो; ऐसे आप्तों के शास्त्र को आगम कहते हैं। वही आप्तोपदेश है। ७. आप्तोपदेश से

पुराणादि का भी ग्रहण किया जाता है। जैसे—"आगमाविरुद्धं यथा-पुराणादिष्वपि श्रूयते—रूद्रेण यज्ञस्य शिरश्छिन्नमश्विभ्यां संहितम्।" —डल्हण। ८. "आप्तानां वचनमाप्तवचनम्। आप्तानां यद् वचनं तत्प्रमाणम्।" —चरकोपस्कारः। आप्तों के वचन प्रमाणभूत होते हैं। ९. "आप्तोपदेशः शब्दः। न्यायवार्तिक। आप्तोपदेश को शब्द कहते हैं। १०. "आप्तवाक्यं शब्दः।"—तर्क संग्रहः। आप्त वाक्य को शब्द कहते हैं। ११. इसी प्रकार सांख्य दर्शन में लिखा है—"आप्तश्रुतिराप्तवचनं तु" —सां०का०। आप्तजनों के वाक्य आप्तवचन हैं। १२. "आप्तैरूपदिश्यते यदिदमेवमिदं नैवमित्युपदेश आप्तोपदेशः"। —गंगाधर। कविराज गंगाधर के इस द्वितीय लक्षण से यह बतलाया गया है कि, इत्थंभूत (सर्वथा निर्णायक) उपदेश को ही आप्तोपदेश कहते हैं।

आप्तोपदेश की प्राथमिकता और प्राधान्यता—

१—"त्रिविधेत्वस्मिन् ज्ञानसमुदाये पूर्वमाप्तोपदेशाज्ज्ञानम्, ततः प्रत्यक्षानुमानाभ्यां परीक्षोपपद्येत। किंह्यनुपदिष्ट पूर्वं यत् तत् प्रत्यक्षानुमानाभ्यां परीक्ष्यमाणो विद्यात्।" —च०वि० ४–५। प्रत्यक्षानुमानाप्तोपदेशात्मक इस त्रिविध ज्ञान समुदाय में सर्वप्रथम आप्तोपदेश से ही ज्ञान संभव है। तदनन्तर प्रत्यक्ष और अनुमान से परीक्षा की जाती है। क्योंकि कोई भी व्यक्ति बिना उपदेश के ही प्रत्यक्ष और अनुमान से किसका और कैसे परीक्षण कर सकेगा। अतः सर्वप्रथम आप्तोपदेश ही ग्राह्य है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि, सुश्रुत के कई संस्करणों में सर्वप्रथम आगम तथा कई जगह प्रत्यक्ष के अनन्तर इसका उल्लेख किया है। हो सकता है, सुश्रुत के शल्यप्रधान होनें से प्रतिसंस्कर्ताओं द्वारा परिवर्तन कर दिया हो; परन्तु आचार्य चरक ने सूत्रस्थान की ११वीं अध्याय में जहां सर्वप्रथम प्रमाणों का परिगणन, उनकी स्थापना व प्रयोजन का निर्देश किया है वहाँ आप्तोपदेश को प्रथम स्थान दिया है और उसका समर्थन उपर्युक्त सन्दर्भ से स्पष्ट है। २. आयुर्वेद एक प्रायोगिक शास्त्र है :—अतः प्रत्यक्ष परक भी है; परन्तु उसके प्रयोग प्रकारों का ज्ञान आचार्य द्वारा पहिले ही प्रकाशित कराया जाता है जिसके आधार पर छात्र प्रत्यक्ष द्वारा उसे ज्ञात कर "द्विबद्धं सुबद्धं भवति" की सूक्ती को चरितार्थ करता है। ३. पुनर्भव आदि, जोकि, प्रत्यक्ष से प्रमाणित नहीं हो सकते, की

Eyes do not see that mind doesn't know

सिद्धि आप्तोपदेश से ही संभव है। ४. आयुर्वेदीय पदार्थों का सर्वप्रथम परिज्ञान आप्तोपदेश से ही हुआ है। तदनन्तर उनकी विस्तार से व्याख्यायें प्रत्यक्षानुमानादि द्वारा की गई हैं। जैसा कि, आयुर्वेदावतरणक्रम से स्पष्ट है। ५. प्रत्यक्ष के बाधक कारण भी होते हैं। उनकी उपस्थिति में प्रमेय की सिद्धि नहीं होने पर आप्तोपदेश ही ग्राह्य होता है। ६. सृष्टि के प्रारम्भ काल में सर्वप्रथम प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सभी वस्तुओं की सिद्धि नहीं हो पाई थी। उस स्थिति में आप्तोपदेश ही प्रमाणभूत होकर ज्ञेय विषयों के ज्ञान में सक्षम हुआ। ७. पाप और पुण्य, धर्म और अधर्म किस प्रकार के कार्य कलाप से उत्पन्न और नष्ट एवं वृद्धि तथा क्षय को प्राप्त होते हैं? इस प्रकार की व्यवस्था की स्थापना प्रत्यक्षादि से नहीं की जाकर आप्तोपदेश से ही सम्भाव्य है। किस प्रकार के अनुष्ठान और मंत्र प्रयोग से कौनसा क्यों और कैसे कार्य होता है यहाँ पर आप्तोपदिष्ट मार्ग ही ग्राह्य है। प्रत्यक्षादि प्रमाणों से इनका निर्धारण नहीं हो सकता है। तत्तत् तिथि, नक्षत्र, ग्रहादि के योग में पुण्य होता है, इनमें नहीं, यह निर्णय शास्त्र से हो सकता है न कि, प्रमाणान्तरों से। किस औषध को कब ग्रहण करना, बनाना, और उसका प्रयोग करना आदि विषयों का वर्णन आयुर्वेद में ही तत्तद् स्थलों में प्राप्त होता है। अतः उक्त विषय अन्य विभागों के होते हुए भी आयुर्वेद में वर्णित होने से ग्राह्य हैं। और इन सब का निर्णय आप्तभूत शास्त्र ही करते हैं। चरक और वाग्भट ने स्वस्थवृत्त के प्रसङ्ग में या आचार-रसायन के प्रकरण में उपर्युक्त विषय विशेष की विवेचनाएं की हैं। उनकी कारण मीमांसा प्रत्यक्षानुमान से संभव नहीं हैं परन्तु शास्त्र में लिखा है। अतएव प्रमाणभूत हैं, यही मानना पड़ता है। ८. आप्तोपदेशः-काल अवस्था, ज्ञानविशेष व ज्ञेय वस्तुओं की सीमा में प्रत्यक्ष की तरह आबद्ध नहीं होकर ज्ञान कराने में समर्थ हो जाता है। ९. प्रत्यक्षादि प्रमाणों की निःसंशयता सहायता व इनके उपबृंहण की शक्ति आप्तोपदेश में सर्वथा निहित है, यह सर्व विदित है, अतः एव आचार्य चरक "सहोपदेशेन" के द्वारा आप्तोपदेश सहित प्रत्यक्षानुमान के प्रयोग की आज्ञा देते है। १०. अनुमान उपमान-युक्ति-अर्थप्राप्ति-संभवादि नाना प्रमाणों का इनमेंपरस्पर कथमपि समावेश किया जाकर कार्य सिद्धि की जा सकती है; परन्तु आप्तोप

देश से जिस प्रमेय की सिद्धि की जाती है उसकी सिद्धि प्रमाणान्तरों से संभव नहीं है। इन कारणों से यह कहा जा सकता है कि आयुर्वेद में आप्तोपदेश को सर्वप्रथम लिखा जा कर उसकी प्रधानता भी स्वीकार की गई है। ११. क्यों कि मानव की पूर्व पीढ़ी जो कि कुछ अनुभूतियां कर आगे की पीढ़ी को दे जाती है और वह पीढ़ी इनसे आगे अपने ज्ञान को बढ़ाती है। इस प्रकार ज्ञानवंश की परम्परा भी आगे से आगे उन्नत होते-होते आज चन्द्र लोक में पहुँचने तक सफल हो सकी है। यदि प्रत्येक मानववंशी आप्तोपदेश को न मानकर अतीत के ही ज्ञान में खोया रहता तो सम्भव है यह ज्ञान-विज्ञान की वृद्धि कदापि नहीं होती। इसलिए आचार्य का आग्रह है कि प्रत्येक बुभुत्सु अतीत के अनुभव = आप्तोपदेश स्वीकृत कर ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में आगे बढ़ता ही रहे।

आप्तोपदेश के भेद—चक्रपाणि ने आप्तोपदेश (शब्द) के दो विभाग किये हैं। यथा—"**आप्तोपदेशः शब्दस्तु द्विविधः—परमाप्तब्रह्मादिप्रणीतस्तथा लौकिकाप्तप्रणीतश्च। ऐतिह्यशब्देन परमाप्तप्रणीतोऽवरुद्धः लौकिकाप्त प्रणीतश्चशब्दैकदेशरूपः सत्यप्रकारं—विहितो ज्ञेयः।**" इस प्रकार ब्रह्मादि प्रणीत को अलौकिक आप्तोपदेश कहते हैं—जैसे वेद। लौकिक आप्तोपदेश का लक्षण रजस्तमोभ्यां के द्वारा प्रतिपादित किया जा चुका है। जो लौकिक पुरुषों के द्वारा सत्य प्रकारक तथा शब्दैकदेश रूपक होता है।

शब्द और उसके भेद—वर्णसमाम्नाय को शब्द कहते हैं, जो कि, संकेत बल से अर्थ को प्रकाशित करता है। वह चार प्रकार के भेदों में विभक्त है। १. दृष्टार्थ २. अदृष्टार्थ ३. सत्य ४. अनृत। **१. दृष्टार्थ**—जिसका अर्थ देखा जा सकता है। जैसे—प्रज्ञापराधादि तीन कारणों से वातादि तीन दोष प्रकुपित होते हैं और लंघनादि छः उपक्रमों से रोगों का प्रशमन होता है **२. अदृष्टार्थ**—जिसका अर्थ नहीं देखा जाता है। जैसे—प्रेत्यभाव है, मोक्ष है। **३. सत्य**—जोकि, यथार्थ होता है। जैसे—आयुर्वेद के उपदेश हैं। उपायसाध्य व्याधियों की सिद्धि के उपाय हैं। आरम्भ का फल होता है। **४. अनृत** जो असत्य हो, यथा आयुर्वेद के उपदेश नहीं हैं। साध्य-व्याधियां उपाय से सिद्ध नहीं होती हैं।

वाक्यार्थावबोधक चार वृत्तियां—१. अभिधा, २. लक्षणा, ३. व्य-

ञ्जना, ४. तात्पर्याख्या । १. अभिधा--जब कोई पद अपने अर्थ को सीधा ही जो कि, उसमें निहित रहता है, प्रकट करता है उसे अभिधा कहते हैं । जैसे-"राम ग्राम जाता है", यहाँ जो अर्थ स्वभावत: राम ग्राम और जाने का है उसी का ग्रहण होगा अन्य अर्थ का नहीं । इस वृत्ति में जो-जो पद और उनके साथ आये हुए प्रत्यय जिन-जिन अर्थों में प्रयुक्त होते हैं, उनके अतिरिक्त अन्य किसी भी अर्थ का बोध नहीं होता है । २. लक्षणा-किसी वाक्य के उच्चारण के बाद अभिधा शक्ति जब अपने अर्थ का बोध समाप्त कर चुकी हो और श्रोता उच्चारण किये हुए पद के अर्थ से वंचित रहा हो तब लक्षणा वृत्ति से अर्थाव-बोध कराया जाता है । जैसे "गंगायां घोष:" यहां पर गंगा में झोपड़ी यह वाक का अर्थ प्रकट होता है परन्तु यहाँ यह अर्थ नहीं लिया जाकर गंगा के समीप तट का अर्थ ग्रहण किया जाता है । ३. व्यञ्जना--जहाँ अभिधा और लक्षणा दोनों ही शक्तियाँ श्रोता को अर्थ का बोध करा चुकी हों और श्रोता फिर भी उस अर्थ के बोध से वंचित रह गया हो, वहाँ व्यञ्जना शक्ति के द्वारा अर्थ का बोध होता है । जैसे दिन भर खेलने के अनन्तर रामकुमार सायंकाल अपनी माता को कहता है, "मा रोटी दो" और वह कुपित होकर कहती है, "आ तुझे रोटी ही दूंगी" इस वाक्य को सुनते ही बच्चा मन में अभिधेयार्थ और लक्ष्यार्थ के अतिरिक्त विचित्र ही अर्थ करता है, जिससे वह सहमकर भयभी हो दूर ही रह जाता है । इस प्रकार माता की रोटी देने की स्वीकृति वा वाक्य से पिटाई करने का जो अद्भुत अर्थ निकलता है वह व्यंग्यार्थ कहलाता है, यह व्यंग्यार्थ अभिधा से नहीं निकल सकता और किसी प्रकार मुख्य अर्थ का बोध न होने से यहाँ लक्षणा भी नहीं हो सकती, अतः व्यंग्यार्थ का ज्ञान कराने वाली उपर्युक्त दोनों शक्तियों से अन्य ही तीसरी व्यञ्जना शक्ति होती है । ४. तात्पर्याख्या वृत्ति--कुछ शब्दों के एक से अधिक अर्थ हुआ करते हैं और वे अर्थ प्रायः सभी के मुख्य भी होते हैं । यदि किसी स्थल में ऐसे शब्द का प्रयोग किया जावे जो दो अर्थों को रखने वाला हो तो श्रोता संदेह पड़ जाता है, क्योंकि इस प्रकार के शब्दों का अर्थ अभिधा, लक्षणा व व्यञ्जना इन तीनों ही शक्तियों की बोधकता से परे होता है, अतः इन के अर्थ को जानने के लिये तात्पर्याख्या नामक वृत्ति का आश्रय लेना पड़ता है । य

"सैंधवमानय" सैंधव लाओ, इस प्रकार किसी राजा के कहने पर श्रोता सैंधव के दो अर्थ "लवण" और "घोड़े" में से प्रकरण देखकर भोजन के समय नमक तथा यात्रा के समय घोड़े का चुनाव कर प्रस्तुत करता है। इसी को "तात्पर्याख्या वृत्ति" कहते हैं।

पदों में अन्वय की प्रक्रिया—मीमांसा दर्शन ने पदों के अन्वय पर बहुत विचार किया है, कुछ मीमांसक कहते हैं कि, वक्ता जिन वर्णों का उच्चारण करता है, उसके उच्चारण किये हुये पूर्व-पूर्व वर्ण पर-पर वर्ण से अन्वित होकर ही उच्चारण किये जाते हैं और श्रोता को एक साथ अन्वित अर्थ का ही बोध होता है। अभिहितान्वयवादी कुछ मीमांसक कहते हैं कि, वक्ता जैसे-जैसे वर्णों का उच्चारण करता है वैसे-वैसे श्रोता उन-उन वर्णों को सुनकर अभिहित कहे हुये पूर्व-पूर्व वर्ण के साथ पर-पर वर्ण का अन्वय करके अर्थ का बोध करता है, अथवा अभिहितान्वयवाद श्रोता के तथा अन्विताभिधानवाद वक्ता के अन्वय का कारण होता है, यदि वक्ता स्वयं वर्णों के अन्वय के बोध का ज्ञान नहीं रखकर अनर्गलप्रलाप करता रहेगा तो उसके वाक्य उन्मत्तप्रलापवत् होंगे।

शक्तिग्रह—प्रत्येक पद किसी निश्चित अर्थ को प्रकट करता है। उस पद में किसी विशेष अर्थ को प्रकट करने की जो विशेष शक्ति होती है उस शक्ति की प्राप्ति हेतु जिन साधनों का उपयोग किया जाता है उनको शक्ति-ग्रह कहते हैं। जिनकी संख्या आठ होती है। उनका वर्णन नीचे किया जा रहा है—१. **व्याकरणम्**—धातु, प्रकृति और प्रत्यय आदि का शक्तिग्रह ज्ञान व्याकरण से होता है। २. **उपमान**—इसका अभिप्राय किसी एक प्रसिद्ध वस्तु की दूसरी वस्तु से तुलना की जावे उसे उपमान कहते हैं। जैसे धनुष की तरह शरीर टेढ़ा हो जावे उसे धनुस्तम्भ कहते हैं। ३. **कोष**—सामान्य अर्थ वाले पद समूह का शक्तिग्रह (ज्ञान) कोष के द्वारा होता है। जैसे "पिप्पली मागधी कृष्णा" इस प्रकार कोष में पर्याय होने से कृष्णा से पीपल को ग्रहण किया जाता है। ४. **आप्तवाक्य**—आप्त पुरुषों के वाक्य से भी शब्द शक्ति का ज्ञान होता है। जैसे—सीखने वाले बालक को वृद्ध पिता के उच्चारण किये हुए और उसी प्रकार का व्यापार किए हुए "घोड़ा लाओ", "गाय बांधो" इत्यादि

"सैंधवमानय" सैंधव लाओ, इस प्रकार किसी राजा के कहने पर श्रोता सैंधव के दो अर्थ "लवण" और "घोड़े" में से प्रकरण देखकर भोजन के समय नमक तथा यात्रा के समय घोड़े का चुनाव कर प्रस्तुत करता है। इसी को "तात्पर्याख्या वृत्ति" कहते हैं।

पदों में अन्वय की प्रक्रिया—मीमांसा दर्शन ने पदों के अन्वय पर बहुत विचार किया है, कुछ मीमांसक कहते हैं कि, वक्ता जिन वर्णों का उच्चारण करता है, उसके उच्चारण किये हुये पूर्व-पूर्व वर्ण पर-पर वर्ण से अन्वित होकर ही उच्चारण किये जाते हैं और श्रोता को एक साथ अन्वित अर्थ का ही बोध होता है। अभिहितान्वयवादी कुछ मीमांसक कहते हैं कि, वक्ता जैसे-जैसे वर्णों का उच्चारण करता है वैसे-वैसे श्रोता उन-उन वर्णों को सुनकर अभिहित कहे हुये पूर्व-पूर्व वर्ण के साथ पर-पर वर्ण का अन्वय करके अर्थ का बोध करता है, अथवा अभिहितान्वयवाद श्रोता के तथा अन्विताभिधानवाद वक्ता के अन्वय का कारण होता है, यदि वक्ता स्वयं वर्णों के अन्वय के बोध का ज्ञान नहीं रखकर अनर्गलप्रलाप करता रहेगा तो उसके वाक्य उन्मत्तप्रलापवत् होंगे।

शक्तिग्रह—प्रत्येक पद किसी निश्चित अर्थ को प्रकट करता है। उस पद में किसी विशेष अर्थ को प्रकट करने की जो विशेष शक्ति होती है उस शक्ति की प्राप्ति हेतु जिन साधनों का उपयोग किया जाता है उनको शक्तिग्रह कहते हैं। जिनकी संख्या आठ होती है। उनका वर्णन नीचे किया जा रहा है—१. व्याकरणम्—धातु, प्रकृति और प्रत्यय आदि का शक्तिग्रह ज्ञान व्याकरण से होता है। २. उपमान—इसका अभिप्राय किसी एक प्रसिद्ध वस्तु की दूसरी वस्तु से तुलना की जावे उसे उपमान कहते हैं। जैसे धनुष की तरह शरीर टेढ़ा हो जावे उसे धनुस्स्तम्भ कहते हैं। ३. कोष—सामान्य अर्थ वाले पद समूह का शक्तिग्रह (ज्ञान) कोष के द्वारा होता है। जैसे "पिप्पली मागधी कृष्णा" इस प्रकार कोष में पर्याय होने से कृष्णा से पीपल को ग्रहण किया जाता है। ४. आप्तवाक्य—आप्त पुरुषों के वाक्य से भी शब्द शक्ति का ज्ञान होता है। जैसे—सीखने वाले बालक को वृद्ध पिता के उच्चारण किये हुए और उसी प्रकार का व्यापार किए हुए "घोड़ा लाओ", "गाय बांधो" इत्यादि

वाक्यों से भिन्न-भिन्न घोड़े और गाय एवं लाने–बांधने की क्रियाओं का जो शक्ति ग्रह होता है, उसे आप्तोपदेशजन्य शक्ति ग्रह कहते हैं। ५. व्यवहार––यह भी शक्ति ग्रह का कारण होता है। जैसे––किसी व्यक्ति ने कहा "गाय लाओ" इससे लाई जाने वाली गाय के समीप में बैठा अज्ञ या बालक व्याक्य के साथ साथ उसके रूप और नाम से भी परिचित हो जाता है। ६. वाक्य-शेष—"यवमय" इस वाक्य से यव क्या वस्तु है यह सन्देह हुआ परन्तु वसन्त में अन्य औषधियों के शुष्क हो जाने पर यव ही हरे भरे रहते हैं। आगे का पद उसका शेष वाक्य है। ७. विवरण––सामान्य अर्थ वाले पद के किसी अर्थ से पद को बतला देना विवरण कहलाता है। जैसे "पचति" का अर्थ है "पाकं करोति" इस विवरण में पाक करने के अर्थ में शक्ति-ग्रह होता है। ८. सिद्ध-पद—प्रसिद्ध पद के पास रहने से भी शक्ति ग्रह होता है; जैसे–"सहकारे मधूनि पिबति" आम के पेड़ पर शहद पीता है। यहां पर मधूनि इस पद से मधुकर भौंरे के अर्थ में शक्ति-ग्रह हुआ है।

वाक्यार्थ ज्ञान—यहाँ पदार्थ परिचयार्थ प्रमाणों को प्रस्तुत किया गया है। इनमें आप्तोपदेश भी एक प्रमाण है, जो कि, शब्द या वाक्यों के द्वारा प्रकट हुआ है और होता है। उन शब्दों के यथार्थ ज्ञानार्थ कई साधनों की आवश्यकता प्रतिपादित की गयी है; जो कि, वाक्यार्थ ज्ञान के हेतु वृत्तियां और शक्ति-ग्रह के रूप में वर्णित हैं। इन सबका ज्ञान करना परमावश्यक है। अतः इन्हें क्रमशः यहां प्रस्तुत कर रहे हैं। **वाक्यार्थ ज्ञान के हेतु**—शक्ति मा... शब्द पद कहलाता है। इस पद से इस अर्थ का बोध होना चाहिए; यह ईश्वर या प्रकृति का संकेत है; उसे शक्ति कहते हैं। इन संकेतों का ज्ञान वृद्ध व्यवहार, कोष, व्याकरण आदि से होता है। पदों के समूह को वाक्य कहते हैं। इन वाक्यों से जो अर्थ प्रकट होता है, उसे शब्दबोध कहा जाता है। वाक्य के पदों का सम्यक् ज्ञान ही वाक्य के अर्थ का अवबोध करा सकता है; परन्तु पदों के ज्ञान के साथ-साथ उनको जानने के लिए किन्हीं अन्य शब्द वलियों का प्रयोग भी वाञ्छनीय होता है। इनके बिना यथार्थ ज्ञान नहीं हो पाता इस प्रकार निम्नोक्त तीन हेतु वाक्यार्थ ज्ञान के लिए बतलाये हैं। जिनका क्रमशः विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

वाक्यों से भिन्न-भिन्न घोड़े और गाय एवं लाने—बांधने की क्रियाओं का जो शक्ति ग्रह होता है, उसे आप्तोपदेशजन्य शक्ति ग्रह कहते हैं। ५. व्यवहार—यह भी शक्ति ग्रह का कारण होता है। जैसे—किसी व्यक्ति ने कहा "गाय लाओ" इससे लाई जाने वाली गाय के समीप में बैठा अज्ञ या बालक व्याक्य के साथ साथ उसके रूप और नाम से भी परिचित हो जाता है। ६. वाक्य-शेष—"यवमय" इस वाक्य से यव क्या वस्तु है यह सन्देह हुआ परन्तु वसन्त में अन्य औषधियों के शुष्क हो जाने पर यव ही हरे भरे रहते हैं। आगे का पद उसका शेष वाक्य है। ७. **विवरण**—सामान्य अर्थ वाले पद के किसी अर्थ से पद को बतला देना विवरण कहलाता है। जैसे "पचति" का अर्थ है "पाकं करोति" इस विवरण में पाक करने के अर्थ में शक्ति-ग्रह होता है। ८. सिद्ध-पद—प्रसिद्ध पद के पास रहने से भी शक्ति ग्रह होता है; जैसे—"सहकारे मधूनि पिबति" आम के पेड़ पर शहद पीता है। यहां पर मधूनि इस पद से मधुकर भौंरे के अर्थ में शक्ति-ग्रह हुआ है।

वाक्यार्थ ज्ञान—यहाँ पदार्थ परिचयार्थ प्रमाणों को प्रस्तुत किया गया है। इनमें आप्तोपदेश भी एक प्रमाण है, जो कि, शब्द या वाक्यों के द्वारा प्रकट हुआ है और होता है। उन शब्दों के यथार्थ ज्ञानार्थ कई साधनों की आवश्यकता प्रतिपादित की गयी है; जो कि, वाक्यार्थ ज्ञान के हेतु वृत्तियां और शक्ति-ग्रह के रूप में वर्णित हैं। इन सबका ज्ञान करना परमावश्यक है। अतः इन्हें क्रमशः यहां प्रस्तुत कर रहे हैं। **वाक्यार्थ ज्ञान के हेतु**—शक्ति मान शब्द पद कहलाता है। इस पद से इस अर्थ का बोध होना चाहिए; यह ईश्वर या प्रकृति का संकेत है; उसे शक्ति कहते हैं। इन संकेतों का ज्ञान वृद्ध व्यवहार, कोष, व्याकरण आदि से होता है। पदों के समूह को वाक्य कहते हैं। इन वाक्यों से जो अर्थ प्रकट होता है, उसे शब्दबोध कहा जाता है। वाक्य के पदों का सम्यक् ज्ञान ही वाक्य के अर्थ का अवबोध करा सकता है; परन्तु पदों के ज्ञान के साथ-साथ उनको जानने के लिए किन्हीं अन्य शब्द वलियों का प्रयोग भी वाञ्छनीय होता है। इनके बिना यथार्थ ज्ञान नहीं हो पाता इस प्रकार निम्नोक्त तीन हेतु वाक्यार्थ ज्ञान के लिए बतलाये हैं। जिनका क्रमशः विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

१. आकांक्षा—किसी भी वाक्य के वाक्यार्थ ज्ञान हेतु सर्वप्रथम बोलने या लिखने के समय उनके द्वारा होने वाली इच्छा की पूर्ति आवश्यक है। वाक्य में प्रयुक्त पद किसी दूसरे पद की सहायता से अर्थ को प्रकट करते हैं। जैसे–(राम जाता है) यहाँ पर केवल "राम" यह कहने मात्र से वाक्यार्थ का ज्ञान नहीं होगा। जब तक कि, "जाता है।" यह नहीं कह देते हैं। इन दोनों के मिलने पर वाक्यार्थ का अवबोध हो जाता है इस प्रक्रिया को आकांक्षा कहते हैं। **२. योग्यता**—प्रत्येक पद में किसी विशेष अर्थ को प्रकट करने की योग्यता होती है। इसके विपरीत वह कार्य करने में असमर्थ होता है। अतः जिस अर्थ को व्यक्त करने में समर्थ हो उसका वही उपयोग किया जाना चाहिए। "वह्निना सिंचति" आग से सींचता है। इस सिंचन क्रिया में वह्नि की योग्यता नहीं है यहाँ तो "जलेन सिंचति" जल से सींचता है यह प्रयोग करना पड़ेगा। **३. सन्निधि** (आसक्ति) पदों में समीपता अवश्य होनी चाहिए जिसको कि, सन्निधि या आसक्ति कहते हैं। इसके बिना वाक्यार्थ का ज्ञान नहीं होता है। जैसे–'राम भोजन करता है।' यहाँ पर राम कह कर कालान्तरों से भोजन और कालान्तरों में भोजन करता है। इन पदों का उच्चारण किया जाय तो वाक्य के पूरा हो जाने पर भी व्यवधान के कारण असन्निधि से श्रोता को अर्थ का बोध नहीं होता है।

आप्तोपदेश के प्रमाणत्व में विपक्षी दार्शनिकों की मान्यतायें—

(१) वैशेषिक, जैन तथा बौद्धमतावलम्बी दार्शनिक शब्द की स्वतन्त्र प्रामाणिकता को स्वीकार नहीं करते हैं और अनेक युक्तियों से इसका खण्डन करके अन्य प्रमाणों से ही प्रमेय की सिद्धि करते हैं। इसी प्रकार तार्किक दिङ्नाग का तर्क है कि, किसी भी व्यक्ति को आप्त श्रेणी में मानने पर भी उनको जब कभी भी जो कोई भी ज्ञान होगा, वह प्रत्यक्ष तथा अनुमान मूलक होगा; क्योंकि, बिना इन दोनों प्रमाणों के कभी भी कोई निर्णयात्मक ज्ञान नहीं होता। अतः, उसे प्रत्यक्षानुमान से किसी भी अन्य प्रमाणान्तर संज्ञा से अवबोधित करना उपयुक्त नहीं है। परन्तु, यह तर्क युक्ति-युक्त नहीं है। क्योंकि, इस संसार में बहुत ऐसे तत्त्व व घटनाएं हैं सथा सृष्टि का समारम्भ उसका लय दोनों ही अवस्थाओं में होने वाली प्रक्रिया में धर्माधर्म,

दैव विज्ञान, पुनर्भव, मोक्ष और स्वर्गादियों की सिद्धि जैसे अनेक सिद्धान्त हैं, जिनकी सिद्धि में प्रत्यक्ष का प्रवेश ही नहीं हो सकता। तब उससे ज्ञान होने का प्रश्न ही नहीं है। अनुमान में अनु और मान इन दो के सम्मेलन से इस शब्द की निष्पत्ति होती है। अतः, अनु के अनुसार किसी ज्ञान के अनन्तर ज्ञान होना यही अर्थ निकलता है। इसलिये, जो तर्क प्रत्यक्ष के विरोध में प्रस्तुत किया है, वही यहाँ लागू होता है। अतः, इसकी भी प्रामाणिकता नहीं रहेगी। तथाच, यदि अनुमान को प्रमाण मान भी लिया जावे, जैसे हमने स्वीकार किया है तब भी उक्त विषयों की सिद्धि अनुमान से असम्भव है। (२) अतिसूक्ष्म तथा अव्यक्तादि भावों की सिद्धि स्थूल साधनों से कथमपि संभव नहीं है। उनका ज्ञान आप्तागम से ही सम्भव है। (३) साधनों से साध्य की सिद्धि की जाती है। यदि उन उन साधनों में विकृति आ जावे तब भी असत्य सिद्धि होने का भय रहता है। अतएव आप्तोपदेश यहाँ पर ग्राह्य कोटि में ही नहीं, अपितु, अनिवार्यत्वेन उपादेय है।

युक्ति निरूपण—

युक्तिलक्षण—

१. "बुद्धिः पश्यति या भावान् बहुकारणयोगजान्।
युक्तिस्त्रिकाला सा ज्ञेया त्रिवर्गः साध्यते यया॥"

अनेक कारणों के योग से उत्पन्न हुए भावों को जो बुद्धि देखती है उसे युक्ति कहते हैं। इससे तीनों कालों के विषयों का ज्ञान होता है और धर्म अर्थ, काम इन तीनों की सिद्धि होती है। २. "**विज्ञातेऽर्थे कारणोपपत्ति दर्शनात् अविज्ञातेऽपि तदवधारणं युक्तिः।**" —गंगाधर। विज्ञात अर्थ में कारणों की संगति (उपपत्ति) को देखकर अविज्ञात अर्थ में भी समाधानपूर्वक उसके निश्चय करने को युक्ति कहते हैं। ३. "**युक्तिस्तु योजना**"—योजना यातुयुज्यते। इस प्रकार योजनापूर्वक कार्य प्रणाली या ज्ञान प्रणाली का नाम युक्ति है। ४. "**बहूपपत्ति-योग-ज्ञायमानानर्थान् या बुद्धिः पश्यति ऊह-लक्षणा युक्तिरिति।**" —चक्रपाणिः। अनेक उपपत्तियों के योग से जानने योग्य अर्थों को जो बुद्धि देखती है, उस ऊह लक्षणात्मक बुद्धि को ही युक्ति क

दैव विज्ञान, पुनर्भव, मोक्ष और स्वर्गादियों की सिद्धि जैसे अनेक सिद्धान्त हैं, जिनकी सिद्धि में प्रत्यक्ष का प्रवेश ही नहीं हो सकता। तब उससे ज्ञान होने का प्रश्न ही नहीं है। अनुमान में अनु और मान इन दो के सम्मेलन से इस शब्द की निष्पत्ति होती है। अतः, अनु के अनुसार किसी ज्ञान के अनन्तर ज्ञान होना यही अर्थ निकलता है। इसलिये, जो तर्क प्रत्यक्ष के विरोध में प्रस्तुत किया है, वही यहाँ लागू होता है। अतः, इसकी भी प्रामाणिकता नहीं रहेगी। तथाच, यदि अनुमान को प्रमाण मान भी लिया जावे, जैसे हमने स्वीकार किया है तब भी उक्त विषयों की सिद्धि अनुमान से असम्भव है। (२) अतिसूक्ष्म तथा अव्यक्तादि भावों की सिद्धि स्थूल साधनों से कथमपि संभव नहीं है। उनका ज्ञान आप्तागम से ही सम्भव है। (३) साधनों से साध्य की सिद्धि की जाती है। यदि उन उन साधनों में विकृति आ जावे तब भी असत्य सिद्धि होने का भय रहता है। अतएव आप्तोपदेश यहाँ पर ग्राह्य कोटि में ही नहीं, अपितु, अनिवार्यत्वेन उपादेय है।

युक्ति निरूपण—

युक्तिलक्षण—

१. "बुद्धिः पश्यति या भावान् बहुकारणयोगजान्।
युक्तिस्त्रिकाला सा ज्ञेया त्रिवर्गः साध्यते यया॥"

अनेक कारणों के योग से उत्पन्न हुए भावों को जो बुद्धि देखती है उसे युक्ति कहते हैं। इससे तीनों कालों के विषयों का ज्ञान होता है और धर्म अर्थ, काम इन तीनों की सिद्धि होती है। २. **"विज्ञातेऽर्थे कारणोपपत्ति वशंगत अविज्ञातेऽपि तदवधारणं युक्तिः।"** —गंगाधर। विज्ञात अर्थ में कारणों की संगति (उपपत्ति) को देखकर अविज्ञात अर्थ में भी समाधानपूर्वक उसके निश्चय करने को युक्ति कहते हैं। ३. **"युक्तिस्तु योजना"**—योजना यातुयुज्यते। इस प्रकार योजनापूर्वक कार्य प्रणाली या ज्ञान प्रणाली का नाम युक्ति है। ४. **"बहूपपत्ति-योग-ज्ञायमानानर्थान् या बुद्धिः पश्यति ऊह-लक्षणा युक्तिरिति।"** —चक्रपाणिः। अनेक उपपत्तियों के योग से जानने योग्य अर्थ को जो बुद्धि देखती है, उस ऊह लक्षणात्मक बुद्धि को ही युक्ति कहते

हैं। ५. "तद्भावभावित्वेन या तत्कार्यताप्रतीतिरियं युक्तिः।" —शान्तरक्षित, कमलशील ; जहाँ तद्भाव से भावित होकर तत्कार्यता की प्रतीति उत्पन्न हो, वह युक्ति कहलाती है। तद्भाव का अर्थ है—"तयोः कारण-कार्ययोः पूर्वस्य परस्मिन् हेतु-सापेक्षः भावः उत्पत्तिः" अर्थात् कारण और कार्य दोनों में से कारण का कार्य में हेतुसापेक्ष होकर उत्पन्न होना। उससे भावित = बार-बार विज्ञानार्थ होकर किसी अविज्ञात = अनजाने स्थल में तत्कार्यता उसी कारण से कार्य की उत्पत्ति के ज्ञान को युक्ति कहते हैं। ६. "या कल्पना यौगिकी भवति सा तु युक्तिरुच्यते। अयौगिकी तु कल्पनाऽपि सती युक्तिर्नोच्यते पुत्रोऽप्यपुत्रवत्।" —चक्रपाणि। कल्पना दो प्रकार से उत्पन्न होती है—साधार और निराधार। कई स्थलों पर कार्यों को सामने उत्पन्न हुए देखकर कारण कार्य ज्ञान के योग सम्बन्ध का अनुभव हो जाता है, उस योग अर्थात् कारण कार्य जन्य अनुभव से दूसरे वैसे ही स्थल पर कारण कार्य की जो कल्पना करली जाती है, वह यौगिकी कल्पना कहलाती है। इसी को साधार कल्पना भी कहते हैं। क्योंकि, इस कल्पना का आधार पूर्ववर्ती पक्षों में अनुभव किया हुआ अनुभव होता है। आचार्य चक्रपाणि इसी यौगिकी कल्पना या साधार कल्पना को युक्ति कहते हैं। इससे भिन्न एक कल्पना और होती है जो अयौगिकी या निराधार होती है। जैसे—कोई हाथी को नहीं देखा हुआ व्यक्ति सहसा उसे देख कर "तमः पुञ्ज" की कल्पना करले तो वह निराधार या अयौगिकी कल्पना होगी। ऐसी कल्पना युक्ति नहीं कही जा सकती। इस अयौगिकी कल्पना की सत्ता में चक्रपाणि उदाहरण देते हैं कि, "पुत्रोऽप्यपुत्रवत्" अर्थात् जिस प्रकार पुत्र भी सम्बन्ध न रखने पर अपुत्र हो जाता है; उसी प्रकार कल्पना भी सम्बन्ध न रखने पर अकल्पना हो जाती है, जिसे युक्ति नहीं कह सकते।

युक्ति के उदाहरण—

१. "जलकर्षणबीजर्तुसंयोगात् शस्यसंभवः।
युक्तिः षड्धातुसंयोगाद् गर्भाणां संभवस्तथा॥" —चरक

जिस प्रकार जल-कर्षण-बीज और ऋतु के समयोग से घास की

उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार पञ्च-महाभूत तथा आत्मा के संयोग से गर्भ की उत्पत्ति होती है। इसे युक्ति कहते हैं।

२. "मध्यमन्थनमन्थानसंयोगादग्निसंभवः ।
युक्तियुक्ताचतुष्पादसंपद् व्याधिनिबर्हणी ॥" --च०सू-११।

जैसे मध्य-मन्थन क्रिया के लिए नीचे का काष्ठ, मन्थन क्रिया, मथान (ऊपर का काष्ठ जो घूमता रहता है। इन तीनों के संयोग से अग्नि की उत्पत्ति होती है; इसी प्रकार भिषक् द्रव्य-उपस्थाता और रोगी इन चारों की संपद् व्याधि का विनाश करने वाली होती है। ३ युक्ति का इसी प्रकार का उद्धरण सुश्रुत ने प्रस्तुत किया है। यद्यपि वहां युक्ति का नामतः निर्देश नहीं है, जिसका विवेचन पीछे कर आये हैं।

युक्ति की प्रमाणतः प्रतिष्ठापना—

युक्ति को पृथक् रूपेण प्रमाणस्वरूप मानने में कई बाधक और साधक वाक्य प्रस्तुत किये गये हैं। इसी क्रम में कमलशील और शान्तरक्षित के विचार भी आगे देखने को मिलेंगे। यहाँ पर युक्ति की प्रमाणतः प्रतिष्ठापना के पक्ष का समर्थन किया जा रहा है। युक्ति प्रमाणान्तर नहीं है। जैसा कि इसी प्रसंग में चक्रपाणि ने "प्रमाणसहायीभूता" प्रमाण के सहायक भूत "साच परमार्थतः अप्रमाण भूताऽपि" और वह परमार्थतः अप्रमाणभूत भी, यह कह कर इसे प्रमाणबहिष्कृत कर दिया है; यह उचित नहीं और चरकानुम भी नहीं है। क्योंकि १. चरक ने सर्वप्रथम प्रमाणगणना के प्रसंग में इस नाम का निर्देश किया है। यथा—"द्विविधं खलु सर्वं सच्चासच्च; तस्य चतुर्विधा परीक्षा आप्तोपदेशः, प्रत्यक्षं, अनुमान, युक्तिश्चेति"।—च०सू०११ यदि आचार्य चरक इसे प्रमाण सहायक मानते तो इस प्रतिज्ञात सिद्धान्त से भी प्रमाण चार होते हैं और उनमें युक्ति की गणना भी कर देना सर्वथा असंगत प्रतीत होता है। संख्या और नाम निर्देष के अनन्तर भी इसे प्रमाणान्तर मानना वदतोव्याघात है। २. चरक ने परादि गुणों में भी युक्ति का निर्देष किया है। वहां पर भी चक्रपाणि इसे अन्तरात्मा से स्वीकार नहीं करते प्रतीत होते हैं। जैसा कि चक्रपाणि का वाक्य है....."युक्तिश्चेयं संयोग

की उत्पत्ति होती है। इसे युक्ति कहते हैं। ...महाभूत तथा आत्मा के संयोग से गर्भ

१२. "मध्यमन्थनमन्थानसंयोगादग्निसंभवः ।
युक्तियुक्ताचतुष्पादसंपद् व्याधिनिबर्हणी ॥" --च०सू-११।

जैसे मध्य-मन्थन क्रिया के लिए नीचे का काष्ठ, मन्थन क्रिया, मथान (ऊपर का काष्ठ जो घूमता रहता है। इन तीनों के संयोग से अग्नि की उत्पत्ति होती है; इसी प्रकार भिषक् द्रव्य-उपस्थाता और रोगी इन चारों की संपद् व्याधि का विनाश करने वाली होती है। ये युक्ति का इसी प्रकार का उद्धरण सुश्रुत ने प्रस्तुत किया है। यद्यपि वहां युक्ति का नामतः निर्देश नहीं है, जिसका विवेचन पीछे कर आये हैं।

युक्ति को प्रमाणतः प्रतिष्ठापना—

युक्ति को पृथक् रूपेण प्रमाणस्वरूप मानने में कई बाधक और साधक वाक्य प्रस्तुत किये गये हैं। इसी क्रम में कमलशील और शान्तरक्षित के विचार भी आगे देखने को मिलेंगे। यहां पर युक्ति की प्रमाणतः प्रतिष्ठापना के पक्ष का समर्थन किया जा रहा है। युक्ति प्रमाणान्तर नहीं है। जैसा कि इसी प्रसंग में चक्रपाणि ने "प्रमाणसहायीभूता" प्रमाण के सहायक भूत "साच परमार्थतः अप्रमाण भूताऽपि" और वह परमार्थतः अप्रमाणभूत भी, यह कह कर इसे प्रमाणबहिष्कृत कर दिया है; यह उचित नहीं और चरकानुम भी नहीं है। क्योंकि १. चरक ने सर्वप्रथम प्रमाणगणना के प्रसंग में इस नाम का निर्देश किया है। यथा—"**द्विविधं खलु सर्वं सच्चासच्च; तस्य चतुर्विधा परीक्षा आप्तोपदेशः, प्रत्यक्षं, अनुमानं, युक्तिश्चेति**"।—च०सू०११ यदि आचार्य चरक इसे प्रमाण सहायक मानते तो इस प्रतिज्ञात सिद्धान्त से भी प्रमाण चार होते हैं और उनमें युक्ति की गणना भी कर देना सर्वथा असंगत प्रतीत होता है। संख्या और नाम निर्देष के अनन्तर भी इसे प्रमाणान्तर मानना वदतोव्याघात है। २. चरक ने परादि गुणों में भी युक्ति का निर्देष किया है। वहां पर भी चक्रपाणि इसे अन्तरात्मा से स्वीकार नहीं करते प्रतीत होते हैं। जैसा कि चक्रपाणि का वाक्य है....."युक्तिश्चेयं संयोग

परिमाणसंस्काराद्यन्तर्गताऽप्यत्युपयुक्तत्वात् पृथगुच्यते" यह युक्ति संयोग परिमाण और संस्कारादि के अन्तर्गत होने पर भी अति उपयुक्त होने से पृथक् रूपेण कही जाती है। इस प्रकार प्रमाण के प्रसंग में तथा यहाँ पर भी इसकी उपयोगिता को स्वीकार करते हुये भी आचार्य चक्रपाणि इस को दोनों ही स्थलों में स्वतंत्र स्थान देने के इच्छुक नहीं हैं। जबकि आचार्य चरक के मत में अन्य परादि गुणों की जैसे मान्यता है, वैसे ही यहाँ युक्ति की प्रामाणिकता न मानने का कोई कारण दिखाई नहीं देता। इसी प्रकार—जैसे प्रत्यक्ष भी एक प्रमाण है तो उसी प्रकार युक्ति भी एक स्वतंत्र प्रमाण है। अतएव युक्ति के उद्धरण से पुनर्भव की सिद्धि करते हैं। **"युक्तिश्चैषाषड्धातुसमुदायाद्गर्भजन्म। कर्तृकरणसंयोगात्क्रिया। कृतस्य कर्मणः फलन्नाकृतस्य नाङ्कुरोत्पत्तिरबीजात्, कर्मसदृशंफलम्, नान्यस्माद्-बीजादन्यस्योत्पत्तिरिति" चरक सू० ११।३२।** ३. यदि आचार्य चरक को प्रमाण रूप में युक्ति अभीष्ट नहीं होती तो इस सर्वथा नवीन कल्पना की क्या आवश्यकता थी, क्योंकि अन्य दार्शनिकों ने युक्ति को कहीं भी प्रमाणत्वेन प्रस्तुत नहीं किया है, अतः, जगत् के सत्यासत्य निर्णयार्थ और पुनर्भव को प्रमाणित करने के लिए युक्ति की योजना की गई जोकि प्रमाण परिकल्पना में चरक का का यह नवीन अनुसन्धान सर्वथा प्रशंसनीय है। ४. स्वयं चरक ने ही आगे चल कर विमान स्थान में युक्ति का अनुमान में अन्तर्भाव कर दिया है। उसी का अवलोकन करके टीकाकार व लेखक महोदय भी तदनुरूप निर्णय लिखते हैं। परन्तु, जैसा कि, पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है और चक्रपाणि भी इसी प्रसंग में यह निर्णय देते हैं कि, कहीं एक प्रमाण, कहीं दो प्रमाण, इस प्रकार जहां-जहाँ जिस-जिस प्रमाण की आवश्यकता समझी गई उन-उन का विवेचन किया गया। अतः यहाँ इस प्रसंग में युक्ति को स्वतन्त्र रूप से प्रमाण माना गया है और आगे जहां इसकी आवश्यकता नहीं समझी गई, वहां इसे अनुमान के अन्तर्गत ही समाविष्ट करके तीन ही प्रमाण माने हैं।

युक्ति के विषय में कमलशील और शान्तरक्षित के विचार—

जिस प्रकार से अनेकों कारणों के संयोग से भावी कार्य की उत्पत्ति का ज्ञान होता है, उसे युक्ति कहते हैं। जैसे—जल, हल, जोतना, बीज बोना

और ऋतु काल का संयोग इन सभी को देखकर भविष्य में होने वाली अन्न की उत्पत्ति का ज्ञान होता है। यह ज्ञान उत्पत्ति द्वारा अपने आप होता है। जो योजना और तजबीज हम करते हैं उसके प्रतिफल का ज्ञान पूर्व निर्धारित कल्पनाओं में निश्चित रूप से होता रहता है, उसे युक्ति कहते हैं। यह युक्ति अनुमान से कोई अन्य पृथक् प्रमाण भूत नहीं मानी जा सकती, क्योंकि, इसका अनुमान से भेद करना बहुत कठिन होता है। इसलिए युक्ति का प्रमाण रूप में पृथक् व्यवहार आदरणीय या मान्य नहीं है। और अनेकों कारणों से भविष्य में प्रतीत होने वाला कार्य कदापि वर्तमान समय में प्रत्यक्ष नहीं होता है, केवल कल्पनात्मक रूप में रहता है। अतः युक्ति को त्रिकालाबाधित कहना भी सार्थक नहीं होता। इस प्रकार युक्ति प्रमाण का खण्डन होने पर शान्त रक्षित और कमल शील नामक आचार्यों ने युक्ति को एक पृथक् प्रमाण स्वीकार करने के विषय में पूर्वकालिक पक्ष में दो सिद्धान्त कहे हैं। शान्त रक्षित ने लिखा है—जिसके विद्यमान होने पर वह कार्य निश्चित रूप से होगा और न होने पर नहीं होगा। इसलिए वह कार्य उसी के द्वारा उसी प्रकार से होगा इस प्रकार का ज्ञान युक्ति कहलाता है। यह एक भिन्न प्रमाण है ऐसा चरक मुनि का कथन है। यह युक्ति अनुमान के अन्तर्गत नहीं मानी जा सकती क्योंकि, अनुमान में दृष्टान्त की आवश्यकता होती है। किन्तु युक्ति में दृष्टान्त की आवश्यकता नहीं रहती है। शान्त रक्षित के इस मत का कमल शील ने भी विवेचन किया है। जैसे—**तद्भाव-भावित्वेन या तत्कार्यता प्रतीतिरियं युक्तिः**" अर्थात् उन भावों (कारणों) से भावि (उत्पन्न होने से) वह उन भावों का संयोगज कार्य होगा। इस प्रकार की प्रतीति या ज्ञान पूर्व में होने पर तत्पूर्वक अनुष्ठान क्रिया करना युक्ति प्रमाण का द्योतक है। यह युक्ति सविकल्पक होने से प्रत्यक्ष प्रमाण भी नहीं है। क्योंकि, प्रत्यक्ष प्रमाण निर्विकल्पक अर्थात् यथार्थ होता है। यह युक्ति अनुमान प्रमाण भी नहीं; क्योंकि, इसमें दृष्टान्त का अभाव है। जैसे दृष्टान्त में भी उन कारणों से उत्पन्न होने से उन्हीं का कार्य होने का ज्ञान होता है। वहाँ भी अन्य कोई दृष्टान्त देखना जरूरी होता है। फिर अन्य उसके बाद और दृष्टान्त देखना भी जरूरी होगा। इस प्रकार दृष्टान्तों के विषय में अनवस्था दोष उत्पन्न हो

जायेगा। इस लिए बिना दृष्टान्त के ज्ञान कराने वाली होने से युक्ति एक पृथक् प्रमाण है। ऐसा पूर्व पक्ष स्थापित करके उसका खण्डन दोनों ही आचार्य करते हैं। कार्य और कारण भाव की प्रतिपत्ति नहीं होने से इसमें साध्य और साधन में भेद नहीं होता है। जैसे युक्ति में—तद्भाव भाविता हेतु है और कार्य कारणता साध्य है। इन दोनों का परस्पर भेद प्रतीत नहीं होता। एक दूसरे का पर्याय होने के कारण जैसे तक और पादप दोनों ही शब्द एक वस्तु के पर्यायमात्र हैं। इसलिए यहां माना गया है कि कार्य कारण रूपता यहाँ सिद्ध नहीं की जा रही है तो क्या उन भावों का व्यवहार या कार्य बतलाया जा रहा है? इस विषय में कहा जाता है कि उक्त व्यवहार में योग्यता को सिद्ध करने में जो व्यापार होता है उसे युक्ति कहते हैं। हेतु और फलत्व का परस्पर सम्बन्ध होना तद्भाव कहलाता है उसमें जो प्रयोग या व्यवहार होता है वह तद्भाव व्यवहार कहलाता है। जैसे किसी विषय के ज्ञान का कथन करने की प्रवृत्ति होना। इस प्रकार के लक्षणों वाला जो अनुष्ठान या धर्म है उस विषय में योग्यता, मूढ़ में भी सिद्ध होती है। जो जिन-जिन व्यापार या व्यवहारों के अनन्तर निश्चित रूप से तदनुसार स्वभाव वाले होते हैं वे उस कार्य व्यवहार के योग्य समझे जाते हैं। जैसे संकेत काल में अनुभूत कुम्भकार आदि के व्यापार या व्यवहार के अनन्तर उपलब्ध होने वाले उनके भाव घट आदि। और भी जैसे तालु जिह्वा आदि के व्यापारों के अनन्तर निश्चित रूप से प्राप्त होने वाले उनसे उत्पन्न भाव अर्थात् शब्द। इसलिए स्वभाव ही हेतु है। अतः दृष्टान्त स्वरूप होने से युक्ति का अनुमान से भेद नहीं होता है। उक्त दोनों पूर्व पक्ष के सिद्धान्त उक्त प्रकार की युक्ति को स्वीकार न करने के कारण ही खण्डित हो जाते हैं।

युक्ति की अनुमान प्रमाण में अन्तर्भाव की कल्पना—

यद्यपि यह सर्व विदित है कि आचार्य चरक ने सूत्र स्थान में युक्ति को पृथक् से प्रमाण माना है परन्तु "अनुमानं खलु तर्को युक्त्यपेक्षः" के अनुसार आचार्य चरक ने विमान स्थान में इसे अनुमान के अन्तर्गत स्वीकार कर लिया है। परन्तु ऐसा होते हुए भी युक्ति का साथ में नाम निर्देश करके इसकी महत्ता, अनिवार्यता और उपयोगिता को मूल रूप में स्वीकार किया है।

जायेगा । इस लिए बिना दृष्टान्त के ज्ञान कराने वाली होने से युक्ति एक पृथक् प्रमाण है । ऐसा पूर्व पक्ष स्थापित करके उसका खण्डन दोनों ही आचार्य करते हैं । कार्य और कारण भाव की प्रतिपत्ति नहीं होने से इसमें साध्य और साधन में भेद नहीं होता है । जैसे युक्ति में–तद्भाव भाविता हेतु है और कार्य कारणता साध्य है । इन दोनों का परस्पर भेद प्रतीत नहीं होता । एक दूसरे का पर्याय होने के कारण जैसे तरु और पादप दोनों ही शब्द एक वस्तु के पर्यायमात्र हैं । इसलिए यहाँ माना गया है कि कार्य कारण रूपता यहाँ सिद्ध नहीं की जा रही है तो क्या उन भावों का व्यवहार या कार्य बतलाया जा रहा है ? इस विषय में कहा जाता है कि उक्त व्यवहार में योग्यता को सिद्ध करने में जो व्यापार होता है उसे युक्ति कहते हैं । हेतु और फलत्व का परस्पर सम्बन्ध होना तद्भाव कहलाता है उसमें जो प्रयोग या व्यवहार होता है वह तद्भाव व्यवहार कहलाता है । जैसे किसी विषय के ज्ञान का कथन करने की प्रवृत्ति होना । इस प्रकार के लक्षणों वाला जो अनुष्ठान या धर्म है उस विषय में योग्यता मूढ़ में भी सिद्ध होती है । जो जिन-जिन व्यापार या व्यवहारों के अनन्तर निश्चित रूप से तदनुसार स्वभाव वाले होते हैं वे उस कार्य व्यवहार के योग्य समझे जाते हैं । जैसे संकेत काल में अनुभूत कुम्भकार आदि के व्यापार या व्यवहार के अनन्तर उपलब्ध होने वाले उनके भाव घट आदि । और भी जैसे तालु जिह्वा आदि के व्यापारों के अनन्तर निश्चित रूप से प्राप्त होने वाले उनसे उत्पन्न भाव अर्थात् शब्द । इसलिए स्वभाव ही हेतु है । अतः दृष्टान्त स्वरूप होने से युक्ति का अनुमान से भेद नहीं होता है । उक्त दोनों पूर्व पक्ष के सिद्धान्त उक्त प्रकार की युक्ति को स्वीकार न करने के कारण ही खण्डित हो जाते हैं ।

युक्ति की अनुमान प्रमाण में अन्तर्भाव की कल्पना—

यद्यपि यह सर्व विदित है कि आचार्य चरक ने सूत्र स्थान में युक्ति को पृथक् से प्रमाण माना है परन्तु "अनुमानं खलु तर्को युक्त्यपेक्षः" के अनुसार आचार्य चरक ने विमान स्थान में इसे अनुमान के अन्तर्गत स्वीकार कर लिया है । परन्तु ऐसा होते हुए भी युक्ति का साथ में नाम निर्देश करके इसकी अर्हता, अनिवार्यता और उपयोगिता को मूल रूप में स्वीकार किया है ।

आचार्य चरक ने विमान स्थान में युक्ति से सम्बन्धित सभी विषयों का विवेचन अनुमान के प्रकरण में "अग्निं जरणशक्त्या"—आदि उद्धरणों द्वारा करके युक्ति के अस्तित्व को भी प्रमाणित किया है। अर्थात् युक्ति मिश्रित या युक्त्याधारभूत अनुमान की मान्यता ही अपने आप में एक विशेषता रखती है। जहाँ युक्ति को मानकर अनुमान का लक्षण किया है (चरक सू० ११) वहाँ पर अनुमान के साथ युक्ति का कोई सम्बन्ध प्रदर्शित नहीं किया है। परन्तु, जहाँ पर युक्ति का स्वतन्त्र प्रमाणत्वेन परिसंख्यान नहीं किया है एवं युक्ति को आधार मानकर अनुमान का लक्षण प्रस्तुत किया है (चरक वि०४) वहाँ अनुमान के साथ युक्ति का सम्बन्ध प्रदर्शित किया है। अतः अनुमान लक्षण में एक ही आचार्य द्वारा जो वैचित्र्य प्रस्तुत किया गया है उसका एक मात्र कारण युक्ति ही है।

युक्ति प्रमाण का वैशिष्ट्य— M.P. (96)

(१) जैसा कि प्रत्यक्ष प्रमाण के प्रसग और युक्ति निरूपणावसर में भी स्पष्ट किया जा चुका है कि युक्ति एक योजना विशेष का नाम है। "योजकस्तत्र दुर्लभः" के अनुसार योजक और योजना दोनों ही अत्यन्त महत्व के अंग होते हैं और इनका सर्वत्र समादरणीय स्थान रहा है। २. "तिष्ठत्युपरि युक्तिज्ञो द्रव्य ज्ञानवतांसदा"—के द्वारा भी युक्ति की महिमा वर्णित की गई है। (३) प्रत्यक्षादि प्रमाणों में त्रिवर्ग सिद्धि का निर्देश नहीं करके युक्ति के प्रसंग में ही करना युक्ति की विशेषता का स्पष्टतया श्रेष्ठ प्रमाण है। (४) प्रत्यक्ष प्रमाण केवल "तदात्वे" उसी समय होता है, जबकि, युक्ति तीनों कालों में की जा सकती है। (५) चारों प्रमाणों में से युक्ति के ज्ञेय विषय को प्रस्तुत करने और उसे प्रमाणित करने का प्रकार जितना स्पष्ट, सरल व व्यवस्थित है; उतना अन्यों का नहीं। इस प्रक्रिया से विद्वान् तथा मूर्ख दोनों ही एतद् विषय को तत्काल हृदयङ्गम कर लेते हैं। (६) यह केवल पदार्थों और तत्वों की सिद्धि तक ही सीमित नहीं, अपितु, रोग–रोगी परीक्षा, चिकित्सा, औषध-निर्माण और क्लिष्ट विषय को सुगमता के साथ समझना आदि सभी कार्य इससे सरलता के साथ सम्पादित हो जाते हैं। अतः युक्ति की अपनी एक विशेष प्रकार की प्रधानता है। इसकी विस्तृत उपादेयता गुण निरूपण में निर्दिष्ट युक्ति प्रकरण में वर्णित की जावेगी।

उपमान निरूपण—

उपमान लक्षण—

(१) अथौपम्यम्—"औपम्यं नाम तद्यदन्येनान्यस्य सादृश्यमधिकृत्य प्रकाशनम् । यथा—दण्डेन दण्डस्य, धनुषा धनुस्तंभस्य ।" —चरक । किसी प्रसिद्ध वस्तु के सादृश्य से अप्रसिद्ध वस्तु की समानता को देखकर उसे प्रकट करना उपमान कहलाता है । (२) उपर्युक्त मत का ही समर्थन चरकोपस्कार ने किया है—"सादृश्यमधिकृत्य अन्येन प्रसिद्धेन अन्यस्याप्रसिद्धस्य प्रकाशनम् ।" (३) चक्रपाणि इसी लक्षण में—"संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रकरणतया अधिकृत्य ।" यह और जोड़ते हैं, जो कि, न्यायोक्त लक्षण है । (४) "प्रसिद्धसाधर्म्यात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टार्थस्य साधनमुपमानम् । यथा—माषवत् मषकः । तिलमात्रस्तिलकालकः इत्यादि ।" —डल्हण । प्रसिद्ध के साधर्म्य से सूक्ष्मव्यवहित दूरी के अर्थ के साधन को उपमान कहते हैं । ५. "उपमितिकरणमुपमानम् ।" — तर्क संग्रहः । उपमिति के करण को उपमान कहते हैं । ६. "उपमीयते अनेन इति उपमानम् ।" जिससे सादृश्य व सामीप्य का ज्ञान हो उसे उपमान कहते हैं । ७. "प्रसिद्ध-वस्तु-साधर्म्यादप्रसिद्ध —साधनम् । उपमानमिति ख्यातं यथा गोर्गवयस्तथा ।" —षड्दर्शन संग्रहः । प्रसिद्ध वस्तु के साधर्म्य से अप्रसिद्धवस्तु का साधन करना उपमान कहलाता है । जैसे—गौ के साधर्म्य से अप्रसिद्ध गवय का साधन करना । ८. "प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम् ।" प्रसिद्ध वस्तु के समान धर्म से साध्य (अप्रसिद्ध) के साधन को उपमान कहते हैं । —न्याय दर्शन । ९. "संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञानमुपमानमिति ।" तर्क संग्रहः । किसी संज्ञा (नाम) के उस नाम वाली वस्तु से सादृश्यज्ञान (सम्बन्ध ज्ञान) को उपमान कहते हैं । इसका यह अर्थ भी किया जा सकता है—पद और अर्थ इन दोनों के शक्तिरूप सम्बन्ध को उपमान कहते हैं और इसका साधन सादृश्यज्ञान है । जैसे—कोई ग्रामवासी व्यक्ति गवय शब्द के अर्थ से अनभिज्ञ था, परन्तु, किसी व्यक्ति से उसने यह सुना कि, "गो सदृशो गवयः" अर्थात् गाय के समान ही कोई जंगली जानवर होता है, यह सुनकर वन में गया उस वाक्यार्थ का स्मरण करता हुआ गाय के समान किसी जानवर को देखा तब यह जन्तु गवय शब्द वाच्य है, यह उपमिति उसे हो जाती है ।

इसी प्रकार किसी रोगी को देखकर जिसका कि शरीर दण्ड के समान सीधा अकड़ा हुआ था। प्रसिद्ध दण्ड से अकड़न का स्मरण करता हुआ, दण्डक रोग के लक्षणों का स्मरण कर यह जानना कि इस रोगी के दण्डक है, उपमान कहलाता है। उपमान को तीन प्रकार से प्रस्तुत किया जाता है—(१) सादृश्य से असादृश्य का ज्ञान। (२) प्रसिद्ध से अप्रसिद्ध का ज्ञान। (३) वाक्य से वाक्यार्थ का ज्ञान। **सादृश्य का लक्षण**—जहाँ द्रव्य गुण और कर्म में समानता होती है, उसे सादृश्य कहते हैं। शरीरस्थ मांस के भक्ष्यरूप में आया हुआ मांस समान है। अत एव इस समानोपयोग के सिद्धान्त से ही शरीर का अभिवर्द्धन होता है। विदारीकन्दवत् विदीरीरोग, तिल की तरह तिलकालक व्याधि होती है। इस प्रकार के उद्धरण भी सादृश्यमूलक माने गये हैं।

उपमान प्रमाण की आयुर्वेद में उपयोगिता—

दोष और धातुओं की विषमता को रोग तथा दोष धातुओं की समता को आरोग्य कहते हैं। वैद्य का कर्त्तव्य है कि, वह शरीर की धातुओं को समत्व, रूप में बनाये रखे तभी उसको दाता कहा जाता है। यथा—

"समैस्तु हेतुभिर्यस्माद् धातून् सञ्जनयेत् समान्।

चिकित्साप्राभृतस्तस्माद् दाता देहसुखायुषाम्॥"—च॰सू॰ ११।३७

समान हेतुओं के द्वारा समान धातुओं का अभिवर्धन होता है यह सब उपमान मूलक है। क्योंकि, उपमान के द्वारा ही यह निर्णय किया जाता है कि, कौन से द्रव्य, गुण, कर्म शरीरान्तर्गत द्रव्य, गुण तथा कर्मों से समान है। तदनन्तर ही इनका उपयोग किया जाता है। इसके पहले नहीं। इसी प्रकार वृद्धिगत-धातुओं का ह्रास करने हेतु उपमान के सर्वथा विरुद्ध द्रव्य गुण कर्म का प्रयोग किया जाता है क्योंकि, जहाँ सादृश्य का ज्ञान उपमान से होता है, वहाँ असादृश्य का ज्ञान भी उपमान द्वारा ही कर लिया जाता है। जैसे कि **"स्पर्शनेन्द्रिय-विज्ञेयः स्पर्शो हि स विपर्ययः"** इस सिद्धान्त से जिस इन्द्रिय के द्वारा जिस विषय का ज्ञान होता है, उस विषय के विपरीत विषय की प्रतीति भी उसी से ही होती है। अन्य सभी प्रमाणों को मानते हुए भी यदि उपमान प्रमाण नहीं माना जाता है तो **"समानाञ्चानुबन्धः स्यादित्यर्थं क्रियते क्रिया"** यह विधेय तथा—

इसी प्रकार किसी रोगी को देखकर जिसका कि शरीर दण्ड के समान सीधा अकड़ा हुआ था। प्रसिद्ध दण्ड से अकड़न का स्मरण करता हुआ, दण्डक रोग के लक्षणों का स्मरण कर यह जानना कि इस रोगी के दण्डक है, उपमान कहलाता है। उपमान को तीन प्रकार से प्रस्तुत किया जाता है—(१) सादृश्य से असादृश्य का ज्ञान। (२) प्रसिद्ध से अप्रसिद्ध का ज्ञान। (३) वाक्य से वाक्यार्थ का ज्ञान। **सादृश्य का लक्षण**—जहाँ द्रव्य गुण और कर्म में समानता होती है, उसे सादृश्य कहते हैं। शरीरस्थ मांस के भक्ष्यरूप में आया हुआ मांस समान है। अत एव इस समानोपयोग के सिद्धान्त से ही शरीर का अभिवर्द्धन होता है। विदारीकन्दवत् विदीरीरोग, तिल की तरह तिलकालक व्याधि होती है। इस प्रकार के उद्धरण भी सादृश्यमूलक माने गये हैं।

उपमान प्रमाण की आयुर्वेद में उपयोगिता—

दोष और धातुओं की विषमता को रोग तथा दोष धातुओं की समता को आरोग्य कहते हैं। वैद्य का कर्त्तव्य है कि, वह शरीर की धातुओं को समत्व, रूप में बनाये रखे तभी उसको दाता कहा जाता है। यथा—

"समैस्तु हेतुभिर्यस्माद् धातून् सञ्जनयेत् समान्।
चिकित्साप्राभृतस्तस्माद् दाता देहसुखायुषाम् ॥"–च०सू० ११।३७

समान हेतुओं के द्वारा समान धातुओं का अभिवर्धन होता है यह सब उपमान मूलक है। क्योंकि, उपमान के द्वारा ही यह निर्णय किया जाता है कि, कौन से द्रव्य, गुण, कर्म शरीरान्तर्गत द्रव्य, गुण तथा कर्मों से समान है। तदनन्तर ही इनका उपयोग किया जाता है। इसके पहले नहीं। इसी प्रकार वृद्धिगत-धातुओं का ह्रास करने हेतु उपमान के सर्वथा विरुद्ध द्रव्य गुण कर्म का प्रयोग किया जाता है क्योंकि, जहाँ सादृश्य का ज्ञान उपमान से होता है, वहाँ असादृश्य का ज्ञान भी उपमान द्वारा ही कर लिया जाता है। जैसे कि **"स्पर्शनेन्द्रिय-विज्ञेयः स्पर्शो हि स विपर्ययः"** इस सिद्धान्त से जिस इन्द्रिय के द्वारा जिस विषय का ज्ञान होता है, उस विषय के विपरीत विषय की प्रतीति भी उसी से ही होती है। अन्य सभी प्रमाणों को मानते हुए भी यदि उपमान प्रमाण नहीं माना जाता है तो **"समानाञ्चानुबन्धः स्यादित्यर्थं क्रियते क्रिया"** यह विधेय तथा—

इसी प्रकार किसी रोगी को देखकर जिसका कि शरीर दण्ड के समान सीधा अकड़ा हुआ था। प्रसिद्ध दण्ड से अकड़न का स्मरण करता हुआ, दण्डक रोग के लक्षणों का स्मरण कर यह जानना कि इस रोगी के दण्डक है, उपमान कहलाता है। उपमान को तीन प्रकार से प्रस्तुत किया जाता है—(१) साहृश्य से असाहृश्य का ज्ञान। (२) प्रसिद्ध से अप्रसिद्ध का ज्ञान। (३) वाक्य से वाक्यार्थ का ज्ञान। **सादृश्य का लक्षण**—जहाँ द्रव्य गुण और कर्म में समानता होती है, उसे साहृश्य कहते हैं। शरीरस्थ मांस के भक्ष्यरूप में आया हुआ मांस समान है। अत एव इस समानोपयोग के सिद्धान्त से ही शरीर का अभिवर्द्धन होता है। विदारीकन्दवत् विदीरीरोग, तिल की तरह तिलकालक व्याधि होती है। इस प्रकार के उद्धरण भी साहृश्यमूलक माने गये हैं।

उपमान प्रमाण की आयुर्वेद में उपयोगिता—

दोष और धातुओं की विषमता को रोग तथा दोष धातुओं की समता को आरोग्य कहते हैं। वैद्य का कर्त्तव्य है कि, वह शरीर की धातुओं को समत्व, रूप में बनाये रखे तभी उसको दाता कहा जाता है। यथा—

"समैस्तु हेतुभिर्यस्माद् धातून् सञ्जनयेत् समान्।
चिकित्साप्राभृतस्तस्माद् दाता देहसुखायुषाम् ॥"–च०सू० ११।३७

समान हेतुओं के द्वारा समान धातुओं का अभिवर्धन होता है यह सब उपमान मूलक है। क्योंकि, उपमान के द्वारा ही यह निर्णय किया जाता है कि, कौन से द्रव्य, गुण, कर्म शरीरान्तर्गत द्रव्य, गुण तथा कर्मों से समान है। तदनन्तर ही इनका उपयोग किया जाता है। इसके पहले नहीं। इसी प्रकार वृद्धिगत-धातुओं का ह्रास करने हेतु उपमान के सर्वथा विरुद्ध द्रव्य गुण कर्म का प्रयोग किया जाता है क्योंकि, जहाँ साहृश्य का ज्ञान उपमान से होता है, वहाँ असाहृश्य का ज्ञान भी उपमान द्वारा ही कर लिया जाता है। जैसे कि **"स्पर्शनेन्द्रिय-विज्ञेयः स्पर्शो हि स विपर्ययः"** इस सिद्धान्त से जिस इन्द्रिय के द्वारा जिस विषय का ज्ञान होता है, उस विषय के विपरीत विषय की प्रतीति भी उसी से ही होती है। अन्य सभी प्रमाणों को मानते हुए भी यदि उपमान प्रमाण नहीं माना जाता है तो **"समानाञ्चानुबन्धः स्यादित्यर्थं क्रियते क्रिया"** यह विधेय तथा—

"याभिः क्रियाभिर्जायन्ते शरीरे धातवः समाः ।
सा चिकित्सा विकाराणां कर्म तद् भिषजां स्मृतम् ॥"

यह चिकित्सा का लक्षण, दोनों ही व्यर्थ हो जावेंगे । क्योंकि बिना उपमान ज्ञान के इन दोनों की सिद्धि कथमपि संभव नहीं है । व्याधियों के ज्ञानार्थ भी उपमान का प्रयोग होता है, जैसे—दण्डक रोग का दण्ड से, धनुस्तम्भ रोग का धनुष के सादृश्य होने से ज्ञान किया जाता है । निदान और चिकित्सा के क्रम में सादृश्य ज्ञान के महत्व को प्रदर्शित करते हुए आचार्य चरक लिखते हैं कि, जिस प्रकार योगज्ञ (धनुष पर बाण रखनें के प्रकार को जाननें वाला) और बाण चलानें में अभ्यस्त तीरन्दाज का लक्ष्य बहुत दूर न हो और लक्ष्य का स्वरूप बड़ा हो तो वह लक्ष्य को बींधनें में समर्थ हो जाता है । इसी प्रकार वैद्य भी अपनें गुणों से सम्पन्न तथा चिकित्सा की सामग्री से युक्त होकर रोग रूपी लक्ष्य को बींधनें में सर्वथा सफल हो जाता है। यहाँ पर इष्वासु और वैद्य तथा दोनों के लक्ष्य में सादृश्य ज्ञान का शास्त्र के तत्तद् स्थलों में तथा व्यवहार में भी प्रयोग करके सफलता प्राप्त करनी चाहिए ।

उपमान को न मानने वाले दर्शन और उनकी मान्यतायें—

वैशेषिक, सांख्य, योग, बौद्ध तथा जैन दर्शन के विद्वानों ने इसकी स्वतंत्र प्रामाणिकता को नहीं माना है । वैशेषिकादि दार्शनिकों की मान्यता है कि इसका अनुमान में ही अन्तर्भाव हो जाता है । सांख्य तथा योगदर्शन के विद्वान् उपमान के अस्तित्व को शब्दपूर्वक प्रत्यक्ष प्रमाण के अन्तर्गत मानते हैं । स्वतन्त्रतया इसकी मान्यता नहीं है । मीमांसकों के उपमान की मान्यता तर्क शास्त्र से भिन्न है । उनका कहना है कि गो के प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार पर उसके सादृश्य का गवय में ज्ञान करना उपमान है । यहाँ पर गो का ज्ञान तो ज्ञाता को पहले से ही था परन्तु गवय का ज्ञान उसे पहले कभी नहीं था जिसका कि उसे नवीन ज्ञान हुआ है । अतएव इसे प्रमाणत्वेन स्वीकार किया जाना चाहिए ।

उपमान को स्वतंत्र प्रमाण मानने में न्याय दर्शन की युक्ति—

१. उपमान का प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव नहीं हो सकता क्योंकि, केवल गाय का प्रत्यक्षीकरण हुआ है न कि गवय का । जब तक प्रमाता को यह

ज्ञान नहीं हो जाता कि, गो सदृश गवय है, तब तक उपमान की सिद्धि नहीं होती। यहाँ अर्थ का इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध रखना अधिक महत्वपूर्ण नहीं है जितना कि गवय के सादृश्य का स्मरण। यह स्मरण ही अन्त में ज्ञान कराता है। अतः उपमान के आधे भाग में तो प्रत्यक्ष की प्रसक्ति हो जाती है परन्तु आधा भाग उससे वंचित रह जाता है, अतः यह प्रत्यक्ष के अन्तर्गत नहीं आता। २. अनुमान में भी इसका समावेश नहीं हो सकता, कारण कि- (क) अनुमान प्रत्यक्ष मूलक होता है, जबकि, गवय का प्रत्यक्षीकरण पहिले कभी हुआ ही नहीं। (ख) व्याप्ति के बिना अनुमान की सिद्धि नहीं होती और उपमान में व्याप्ति की आवश्यकता ही नहीं रहती तथा गो एवं गवय का साहचर्य नियम या सम्बन्ध भी नहीं होता, अतः अनुमान में इसका अन्तर्भाव नहीं हो सकता। ३. शब्द प्रमाण में भी इसका समावेश इसलिये नहीं हो सकता कि शब्द प्रमाण में यह निश्चित नहीं कि वह अर्थ जिसका ज्ञान करना है, ज्ञाता को होवे ही तथा यह भी है, कि शब्द से "गो सदृशो गवयः" यह ज्ञान हो जाता है, परन्तु पिण्ड विशेष में गवय पद वाच्यत्व का नहीं। इस प्रकार उक्त तीनों ही प्रमाणों में उपमान का अन्तर्भाव नहीं होने से इसे स्वतंत्र प्रमाण मानना चाहिये।

अर्थ प्राप्ति–

"यत्रैकेनार्थेनोक्तेनापरस्यार्थस्यानुक्तस्यार्थस्यार्थसिद्धिः।" यथा नायं सन्तर्पणसाध्यो व्याधिरित्युक्ते भवत्यर्थप्राप्तिरपतर्पणसाध्योऽयमिति।"— चरक वि० ८।—जहाँ एक अर्थ के कहने पर दूसरे न कहे हुए अर्थ का ज्ञान हो जावे उसे अर्थापत्ति कहते हैं। जैसे यह व्याधिसन्तर्पण जन्य नहीं है इस कथन से यह अर्थ प्राप्ति स्वतः हो जाती है कि यह अपतर्पण साध्य है। आयुर्वेद के साथ मीमांसक तथा वेदान्ती इसे पांचवें प्रमाण के रूप में मानते हैं। मीमांसक तथा वेदान्तियों का कथन है कि इस प्रमाण के द्वारा किसी अज्ञात विषय का ज्ञान होता है। जैसे देवदत्त दिन में भोजन नहीं करता अतः उसके रात्रि भोजन का ज्ञान हमको हो जाता है। नैय्यायिक इसे अनुमान के अन्तर्गत मान कर इसे स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं करते हैं। आयुर्वेद में इस प्रकार के ज्ञान की परमावश्यकता रहती है अतएव आचार्य चरक ने इसको स्वीकार किया है।

...अर्थ का इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध रखना अधिक ... है, तब तक उपमान की सिद्धि नही है जितना कि गवय के सादृश्य का स्मरण। यह स्मरण ही अन्त में ज्ञान कराता है। अतः उपमान के आधे भाग में तो प्रत्यक्ष की प्रसक्ति हो जाती है परन्तु आधा भाग उससे वंचित रह जाता है, अतः यह प्रत्यक्ष के अन्तर्गत नहीं आता। २. अनुमान में भी इसका समावेश नहीं हो सकता, कारण कि (क) अनुमान प्रत्यक्ष मूलक होता है, जबकि, गवय का प्रत्यक्षीकरण पहिले कभी हुआ ही नहीं। (ख) व्याप्ति के बिना अनुमान की सिद्धि नहीं होती और उपमान में व्याप्ति की आवश्यकता ही नहीं रहती तथा गो एवं गवय का साहचर्य नियम या सम्बन्ध भी नहीं होता, अतः अनुमान में इसका अन्तर्भाव नहीं हो सकता। ३. शब्द प्रमाण में भी इसका समावेश इसलिये नहीं हो सकता कि शब्द प्रमाण में यह निश्चित नहीं कि वह अर्थ जिसका ज्ञान करना है, ज्ञाता को होवे ही तथा यह भी है, कि शब्द से "गो सदृशो गवयः" यह ज्ञान हो जाता है, परन्तु पिण्ड विशेष में गवय पद वाच्यत्व का नहीं। इस प्रकार उक्त तीनों ही प्रमाणों में उपमान का अन्तर्भाव नहीं होने से इसे स्वतंत्र प्रमाण मानना चाहिये।

अर्थ प्राप्ति--

"यत्रैकेनार्थेनोक्तेनापरस्यार्थस्यानुक्तस्यार्थस्यार्थसिद्धिः।" यथा नायं सन्तर्पणसाध्यो व्याधिरित्युक्ते भवत्यर्थप्राप्तिरपतर्पणसाध्योऽयमिति।"-- चरक वि० ८।--जहाँ एक अर्थ के कहने पर दूसरे न कहे हुए अर्थ का ज्ञान हो जावे उसे अर्थापत्ति कहते हैं। जैसे यह व्याधिसन्तर्पण जन्य नहीं है इस कथन से यह अर्थ प्राप्ति स्वतः हो जाती है कि यह अपतर्पण साध्य है। आयुर्वेद के साथ मीमांसक तथा वेदान्ती इसे पांचवें प्रमाण के रूप में मानते हैं। मीमांसक तथा वेदान्तियों का कथन है कि इस प्रमाण के द्वारा किसी अज्ञात विषय का ज्ञान होता है। जैसे देवदत्त दिन में भोजन नहीं करता अतः उसके रात्रि भोजन का ज्ञान हमको हो जाता है। नैय्यायिक इसे अनुमान के अन्तर्गत मान कर इसे स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं करते हैं। आयुर्वेद में इस प्रकार के ज्ञान की परमावश्यकता रहती है अतएव आचार्य चरक ने इसको स्वीकार किया है।

अनुपलब्धि या अभाव—

कुमारिल भट्ट मतावलम्बी मीमांसक तथा वेदान्ती छटे प्रमाण के रूप में अनुपलब्धि को मानते हैं। जोकि अभाव का ज्ञान कराता है। यद्यपि अभाव होता ही नहीं है। अतः उसके ज्ञान का तो प्रश्न ही नहीं है, पुनरपि यह भी एक प्रकार से ज्ञान की कोटि में ही आता है। अतः वेदान्ती इसे स्वीकार करते हैं। जैसे किसी के पूछने पर कि औषधालय में वैद्यजी को देख कर बताना कि, वे हैं या नहीं। उस व्यक्ति ने औषधालय में वैद्यजी को देखा, परन्तु, वे वहाँ नहीं थे। अतः यह कहा कि, 'वैद्यजी नहीं है।' यहां पर वैद्यजी के अभाव का ज्ञान हो गया अतः यह भी एक प्रकार का ज्ञान ही है और ग्राह्य भी नैय्यायिक इसे प्रत्यक्ष के अन्तर्गत मानते हैं, क्योंकि, जिस इन्द्रिय से जिस विषय का अवबोध होता है उस विषय के अभाव का ज्ञान भी उसी इन्द्रिय से होगा और यही सिद्धान्त आयुर्वेद का है। आचार्य चरक इस प्रसंग में लिखते हैं कि—**"स्पर्शनेन्द्रियविज्ञेयः स्पर्शो हि स विपर्ययः"** इस प्रकार स्पर्श और स्पर्शाभाव दोनों ही स्पर्शनेन्द्रिय से ज्ञेय होते हैं। अत एव आचार्य चरक ने-**"द्विविधं खलु सर्वं सच्चासच्च"** सम्पूर्ण जगत् भाव और अभावात्मक है यह लिखकर अभाव को भी स्वीकार किया है पुनरपि उपर्युक्त कारण से इसे पृथक् रूपेण नहीं माना है।

ऐतिह्य प्रमाण—जिससे किसी शास्त्र, वंश या विज्ञान आदि की एक विशिष्ट परम्परा का ज्ञान होता हो उसे ऐतिह्य प्रमाण कहते हैं। पौराणिक लोग इसे प्रमाणत्वेन स्वीकार करते हैं। आयुर्वेद में भी इसको स्वीकार किया है। (१) यह आप्तोपदेश में भी माना गया है यथा—**"ऐतिह्य-नाम आप्तोपदेशो वेदादिः"—चरक**। जिसका विवेचन पूर्व में कर आये हैं। (२) परन्तु यहाँ पर आदि शब्द से इसे वेद व्यतिरिक्त भी स्वीकार किया गया है; जो कि, पुराण-श्रुति, स्मृति आदि के रूप में बहुत ही विशिष्ट विषयों का ज्ञान कराता है। इनके बिना आदि काल के तात्त्विक व आवश्यक विषय का ज्ञान नहीं हो सकता; जो कि, परमावश्यक है। (३) कुछ ऐतिहासिक परम्परायें, धारणायें और रूढियाँ भी न मालूम कब से कैसे और क्यों चली आ रही हैं। इनका सम्यक्तया पता नहीं; परन्तु, वे वर्तमान में हैं तथा प्राचीन

समय से चली आ रही हैं और व्यवहारतः किसी न किसी रूप और मात्रा में उनका उपयोग भी हो रहा है; परन्तु, उनमें कितनी यथार्थता और अयथार्थता है, यह नहीं कहा जा सकता। इसलिए, इन मान्यताओं को प्रमाण कोटि में रखा जावे अथवा नहीं यह संशयास्पद और अनिर्णीत विषय है एतावता इसको प्रमाणत्वेन मानना उचित प्रतीत नहीं होता।

इस प्रकार ऐतिह्य के तीन रूप हमारे सामने उपस्थित हैं—(१) वेद जिनको सर्वथा सर्वात्मना अन्य दर्शन तथा आयुर्वेद ने प्रमाण भूत माना है। (२) श्रुति-स्मृति-पुराण—जिनको आयुर्वेद व अन्य कुछ दार्शनिक प्रमाणत्वेन स्वीकार करते हैं। कुछ उनके कथन में भी असत्य प्रतीति या उनका ही यह कथन है या किसी अन्य अनधिकृत व्यक्ति का आदि शंकाओं से तिरोहित ज्ञान वाले इनको प्रमाणत्वेन नहीं मानते हैं। (३) तीसरे प्रकार के ज्ञान को मानने में संदेह होता है; क्योंकि, उसमें सर्वथा सत्य नहीं होता। कुछ सत्य भी हो सकता है और असत्य भी; अतः इस प्रकार के केवल अन्ध परम्परा प्राप्त ज्ञान को प्रमाणत्वेन मानना उपयुक्त व आवश्यक नहीं।

संभव—यह प्रमाण भी पौराणिकों द्वारा स्वीकृत किया गया है; जो कि, आयुर्वेद में भी वर्णित है। संभव उसे कहते हैं, जहाँ किसी वस्तु के कथन करने पर उसके एक देश का ज्ञान न होकर उसके सभी देशों का परिचय प्राप्त हो सके। जैसे—"राजयक्ष्मा" यह कहने पर उसके एकादश व षड्रूप स्वतः ही ज्ञेय हो जाते हैं। अथवा, जैसे फाउण्टेन पैन यह कहने पर उसकी निब उसका ढक्कन आदि सभी अवयवों का ज्ञान हो जाता है, इसी को संभव प्रमाण कहते हैं। जब किसी वस्तु के कथन से अकथित सभी देशों का ज्ञान जिसके द्वारा होता है उसे प्रमाणत्वेन अवश्य मानना चाहिए। दूसरे दार्शनिक इसका प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव करते हैं।

शब्द प्रमाण—इसका विवेचन चरक में किया है और यह प्रमाणत्वेन माना जाता है। इसके तीन भेद होते हैं—(१) वैदिक (२) लौकिक (३) साधारण। इनमें वैदिक शब्दों का सम्बन्ध वेदों से है, जो सर्वथा प्रमाणत्वेन मान्य है। दूसरा लौकिक शब्द, जो कि, महापुरुष, सत्पुरुष, तत्त्ववेत्ता, विज्ञानवेत्ता आदि संज्ञावबोधित व्यक्तियों द्वारा बोला जाता है। यह भी आप्तोपदेश इस नाम से प्रमाणत्वेन मान्य है। तीसरे साधारण शब्द होते हैं,

जो सामान्य व्यक्तियों द्वारा बोले जाते हैं। इन्हें प्रमाण भूत नहीं कह सकते। इसके अतिरिक्त शब्द के दो भेदों में से सत्य को प्रमाणत्वेन तथा असत्य को अप्रमाणत्वेन माना गया है। इस प्रकार के ऐतिह्य तथा शब्द को सर्वात्मना प्रमाण तथा अप्रमाण दोनों ही मानना उपयुक्त नहीं होगा।

चेष्टा का प्रमाणत्व—"**परेंगितज्ञान फला हि बुद्धय:**" इस कथन के अनुसार किसी भी व्यक्ति विशेष के अंग-प्रत्यंगों, शारीरिक चेष्टायें व क्रोध-हर्ष-दुख:-दैन्य-शान्ति-चिन्ता व व्याकुलादिभाव प्रभृतियों की ऐन्द्रियक व मानस चेष्टायें ततद् व्यक्तियों के हृदयंगम भावों को अभिव्यक्त करने से प्रमाणत्वेन मानी जाती हैं। जैसे गूंगा व्यक्ति अपनी चेष्टाओं के द्वारा अपनी भावनाओं को व्यक्त करता है, इसी प्रकार एक क्रोधी व्यक्ति की मुखाकृति को देखकर उसकी अन्तर्गत भावनाओं को जाना जाता है। इसका मानस-शास्त्र में अधिक महत्त्व होने से आयुर्वेद में मान्य है।

परिशेष–किसी अर्थ समुदाय या वस्तु समुदाय में से अभीष्ट वस्तु का ग्रहण तथा अनिष्ट का परित्याग करने को परिशेष प्रमाण कहते हैं। जैसे १०० गायों में से अपनी एक गाय निकाल ली जाय अथवा सभी के निश्चित लक्षण होने से किसी एक का लक्षण नहीं करने पर भी उस का ज्ञान होना परिशेष कहलाता है। जैसे गुण के प्रसङ्ग में कहागया है कि द्रव्यादि सभी के लक्षण कहे हैं अतः इसका यदि लक्षण नहीं भी किया जावे तब भी उसका ज्ञान ठीक उसी तरह से हो जावेगा जैसे दस वस्तुओं में नो के चिह्नित होने से तथा दशवीं वस्तु के अचिह्नित होने पर भी उसका ज्ञान हो जावेगा इसी को परिशेष कहते हैं। अथवा सबके अनन्तर जो शेष रह जावे उसको परिशेष कहते हैं। इस प्रकार आयुर्वेद में सभी प्रमाणों का तत्तत् स्थलों में समादरणीय स्थान माना गया है।—"**विषमप्यमृतं भवेत्**" विष भी अमृत हो जाता है, इस सिद्धान्त को प्रमाणित करने वाला शास्त्र जब प्राणों के हरने वालों को प्राणप्रद बना सकता है; भला वह शास्त्र प्रमाण जैसे प्रकरण में पीछे रहे जो कि विज्ञान का आधारभूत है को न मानना कथमपि संभव नहीं है। योजक की योजना ही तत्तद् वस्तुओं की उत्कृष्टता अथवा निकृष्टता को जन्म देती है इसीलिये आचार्य चरक लिखते हैं—"**तिष्ठत्युपरि युक्तिज्ञो द्रव्यकालवतां सदा।**"

पदार्थ विज्ञानीय

अध्याय ३

पद का लक्षण—(१) अक्षरसमूह को पद कहते हैं। (२) ऐसे वर्णों का समूह जो अपनी शक्ति से अर्थ का ज्ञान कराता है, पद कहलाता है। **पदार्थ निरूक्ति**—"पद्यते गम्यते येनार्थः स पदार्थः"। जिससे किसी विषय विशेष या अर्थ का ज्ञान हो उसे पदार्थ कहते हैं। **पदार्थ लक्षण**—(१) "प्रमितिविषयाः पदार्थाः।"—सप्तपदार्थी। ज्ञान के विषय को पदार्थ कहते हैं। (२) "अभिधेयत्वं-पदार्थ-सामान्य लक्षणम्"—तर्क दीपिका। अभिधेयत्व पदार्थ का सामान्य लक्षण है अर्थात् जिसका कोई नाम हो उसे पदार्थ कहते हैं। (३) "पदार्थस्तुपदस्यार्थोऽभिधेयत्वादिरुच्यते" (४) "षण्णामपिपदार्थानामस्तित्वाभिधेयत्वज्ञेयत्वानि"—प्रशस्त पाद। छहों पदार्थों में अस्तित्व, अभिधेयत्व और ज्ञेयत्व होता है। (५) पदप्रतिपाद्योऽर्थः पदार्थः"—तात्पर्यटीका। पद से प्रतिपाद्य अर्थ को पदार्थ कहते हैं। (६) "पदजन्यप्रतीति-विषयत्वं पदार्थत्वम्।" पद द्वारा जिस विषय की प्रतीति हो उसे पदार्थ कहते हैं। (७) योऽर्थोऽभिहितः सूत्रेपदे वा सपदार्थः"। "पदस्य पदयोः पदानांवाऽर्थः पदार्थः"। —सुश्रुत। जो अर्थ सूत्र या पद में कहा गया है वह पदार्थ होता है। पद और पदों के अर्थ को पदार्थ कहते हैं।

उपर्युक्त पदार्थ लक्षण निरूपण की संख्या एक में कहा गया लक्षण बहुत ही व्यापक है, क्योंकि, समस्त संसार और उसके सभी भाव ज्ञान के विषय हैं। इसी प्रकार "द्विविधंखलु सर्वं सच्चासच्च" यह चरकीय वाक्य भी भाव और अभाव इन दोनों को प्रमिति (ज्ञान का विषय) मानता है। यद्यपि आचार्य चरक ने पदार्थों के परिगणना के क्रम में अभाव का निर्देश नहीं किया है, पुनरपि संसार के सभी भाव और अभाव ज्ञेय अवश्य होते हैं। जहाँ यह ज्ञान कि घट है वहाँ यह ज्ञान भी आवश्यक हो जाता है कि, घट नहीं है। अर्थात् जिस प्रकार घट के अस्तित्व का ज्ञान आवश्यक है वैसे ही उसके अभाव का ज्ञान

पदार्थ विज्ञानीय

अध्याय ३

पद का लक्षण—(१) अक्षरसमूह को पद कहते हैं। (२) ऐसे वर्णों का समूह जो अपनी शक्ति से अर्थ का ज्ञान कराता है, पद कहलाता है। पदार्थ निरूक्ति—"पद्यते गम्यते येनार्थः स पदार्थः"। जिससे किसी विषय विशेष या अर्थ का ज्ञान हो उसे पदार्थ कहते हैं। पदार्थ लक्षण—(१) "प्रमितिविषयाः पदार्थाः।"–सप्तपदार्थी। ज्ञान के विषय को पदार्थ कहते हैं। (२) "अभिधेयत्वं-पदार्थ-सामान्य लक्षणम्"—तर्क दीपिका। अभिधेयत्व पदार्थ का सामान्य लक्षण है अर्थात् जिसका कोई नाम हो उसे पदार्थ कहते हैं। (३) "पदार्थस्तुपदस्यार्थोऽभिधेयत्वाविरुच्यते" (४) "षण्णामपिपदार्थानाम-स्तित्वाभिधेयत्वज्ञेयत्वानि"–प्रशस्त पाद। छहों पदार्थों में अस्तित्व, अभिधेयत्व और ज्ञेयत्व होता है। (५) पदप्रतिपाद्योऽर्थः पदार्थः"—तात्पर्यटीका। पद से प्रतिपाद्य अर्थ को पदार्थ कहते हैं। (६) "पदजन्यप्रतीति-विषयत्वं पदार्थ-त्वम्।" पद द्वारा जिस विषय की प्रतीति हो उसे पदार्थ कहते हैं। (७) योऽर्थोऽभिहितः सूत्रेपदे वा सपदार्थः"। "पदस्य पदयोः पदानांवाऽर्थः पदार्थः"। –सुश्रुत। जो अर्थ सूत्र या पद में कहा गया है वह पदार्थ होता है। पद और पदों के अर्थ को पदार्थ कहते हैं।

उपर्युक्त पदार्थ लक्षण निरूपण की संख्या एक में कहा गया लक्षण बहुत ही व्यापक है, क्योंकि, समस्त संसार और उसके सभी भाव ज्ञान के विषय हैं। इसी प्रकार "द्विविधंखलु सर्वं सच्चासच्च" यह चरकीय वाक्य भी भाव और अभाव इन दोनों को प्रमिति (ज्ञान का विषय) मानता है। यद्यपि आचार्य चरक ने पदार्थों के परिगणना के क्रम में अभाव का निर्देश नहीं किया है, पुनरपि संसार के सभी भाव और अभाव ज्ञेय अवश्य होते हैं। जहाँ यह ज्ञान कि घट है वहाँ यह ज्ञान भी आवश्यक हो जाता है कि, घट नहीं है। अर्थात् जिस प्रकार घट के अस्तित्व का ज्ञान आवश्यक है वैसे ही उसके अभाव का ज्ञान

भी आवश्यक है। उपर्युक्त सभी लक्षणों से पदार्थ के दो अर्थ प्रकट होते हैं। (१) वे तत्त्व जिनसे समस्त संसार बनता है, पदार्थ कहलाते हैं। जैसे चरकोक्त षट्पदार्थ है। (२) वे सूत्र अथवा पद जो कि ग्रन्थों में लिखे होते हैं, उनके अर्थ को भी पदार्थ कहते हैं। जैसाकि आचार्य सुश्रुत व तात्पर्य टीका का लक्षण ऊपर लिखा जा चुका है। इन दोनों प्रकार के भिन्न-भिन्न लक्षणों का ज्ञान केवल मात्र इसी लक्षण से हो जाता है, क्योंकि ग्रन्थोक्त पदार्थ व संसार के कारणभूत पदार्थ दोनों ही ज्ञान के विषय हैं। इसलिये यह कहा जा सकता है कि, सप्तपदार्थी का लक्षण अत्यन्त संक्षिप्त और सारगर्भित है। प्रशस्त पाद ने लक्षणों का समुच्चय करके अपना पृथक् लक्षण बनाया है। इससे यह अधिक स्पष्ट और व्यापक हो गया है, क्योंकि, इसमें अभिधेयत्व, ज्ञेयत्व और अस्तित्व तीनों ही लिखे गये हैं।

चरक और सुश्रुत की पदार्थ मीमाँसा—

आचार्य सुश्रुत ने संसार के कारण भूत पदार्थों का उल्लेख नहीं करके ग्रन्थार्थ तक ही इस लक्षण को सीमित कर दिया है, क्योंकि वे कारणभूत पदार्थ भी ग्रन्थों में ही लिखे हुए प्राप्त होते हैं। इसलिए जब ग्रन्थार्थ का ज्ञान हो जावेगा तब उन सभी पदार्थों का ज्ञान स्वतः हो जावेगा। आचार्य सुश्रुत इस लक्षण के प्रसंग में यह स्पष्ट करते हैं कि, जिस सूत्र या पद में जो अर्थ ग्रहण करने योग्य है वही ग्रहण करना चाहिए, इसके लिये पूर्वापर प्रसंग तथा प्रकृतस्थल को ध्यान में रखकर निर्णय अपेक्षित है। इस प्रकार स्पष्ट रूपेण ग्रन्थार्थ ही पदार्थत्वेन स्वीकार किया है।

आचार्य चरक ने जिन ६ पदार्थों का परिसंख्यान किया है, वे कणादोक्त या वैशेषिक दर्शन सम्मत हैं। वैशेषिक दर्शन के आधारभूत ये ही छः पदार्थ हैं। इन्हीं से संसार के समस्त भावों की उत्पत्ति और इन्हीं में सभी भावों का लय तथा इन्हीं से संसार के समस्त कार्यकलाप होते हैं। अतः आचार्य चरक इन सामान्यादि का वर्णन करने "इत्युक्तं कारणम्" यह लिखते हैं और आगे "कार्यम्" यह लिख कर कार्य का वर्णन करते हैं। बौद्ध व अन्य चार्वाकादि नास्तिक दर्शन जिनके इस कथन का कि संसार के समस्त

पदार्थ संयोग से उत्पन्न होते हैं, इनके संयोग विशेष से ही जीवन, मरण होता है। आत्मा तथा प्रकृति नामक आदि कोई पृथक् तत्त्व नहीं होता, इत्यादि शंकाओं का निराकरण करके एक विशेष व्यवस्था को स्थिर करते हैं, क्योंकि, आचार्य चरक चिकित्सा शास्त्र के साथ-साथ दर्शन शास्त्र के उद्देश्यों की पूर्ति भी करते हैं। यही नहीं सामान्यादि पदार्थों के लक्षण, पदार्थानुबन्धनक्रम व भेद को स्पष्ट करते हुए वैशेषिकों से अपने स्वतन्त्र सिद्धान्त भी स्थापित किए हैं, जो यथा प्रसंग आगे देखने को मिलेंगे।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि आचार्य चरक ने पदार्थ परिगणन प्रसंग में पदार्थ की परिभाषा व पदार्थ संज्ञा का निर्देश नहीं करते हुए महर्षियों के दिव्य ज्ञान द्वारा प्रकटित सामान्यादि छः को ही कारणत्वेन मानते हैं, जबकि आचार्य सुश्रुत पदार्थ की परिभाषा और "अपरिमिताश्च पदार्थाः" से इनके असंख्येयत्व का निर्देश करते हैं। इस प्रकार पदार्थ के विषय में चरक और सुश्रुत दोनों ही मौलिक भिन्नतायें प्रस्तुत करते हैं।

पदार्थों का विभाजन— समस्त पदार्थों के भाव और अभाव इस प्रकार दो विभाग होते हैं। यथा—**"द्विविधं खलु सर्वं सच्चासच्च"**।—च०सू० ११। यहाँ पर चक्रपाणि तथा उपस्कार दोनों सत् से भाव तथा असत् से अभाव पदार्थों का ग्रहण करने का निर्देश किया है। **भाव-पदार्थः**—"भवन्ति सत्तामनुभवन्ति इति भावाः"। अर्थात् जिनका सत्ता से ज्ञान होता है, वे भाव पदार्थ कहलाते हैं। इस के अनुसार सामान्य, विशेष, गुण, द्रव्य, कर्म और समवाय ये ६ भाव पदार्थ होते हैं। आश्रयाश्रयी भेद से भाव पदार्थों के पुनः दो प्रभेद होते हैं —**१. आश्रय**:—द्रव्य, गुण, तथा कर्म ये तीन पदार्थ आश्रय रूप में रहते हैं, अतः ये आश्रय-भावपदार्थ कहलाते हैं। **२. आश्रयीः**— सामान्य, विशेष तथा समवाय ये तीनों आश्रयी-भावपदार्थ होते हैं, क्योंकि इनकी द्रव्यादियों के अतिरिक्त स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। इनसे जो भी लाभ या हानि होती है वह सभी द्रव्यादि मूलक है। सामान्य से वृद्धि तथा विशेष से ह्रास करना चाहें तो द्रव्य, गुण या कर्म के द्वारा ही तथा द्रव्य, गुण कर्म में ही किया जा सकता है, केवल सामान्यादि से, सामान्यादि में नहीं। समवाय, द्रव्य गुण कर्म के अपृथक् भाव को बतलाने वाला होता है। इस प्रकार सामान्य,

मिश्र ने द्रव्य, गुण और कर्म इन तीनों का ही पदार्थत्वेन परिगणन किया है। कर संभवतः भाव विशेष और समवाय का द्रव्य, गुण, कर्म में समावेश मान अतः द्रव्य, गुण, कर्म को प्रधान तथा सामान्य, विशेष और समवाय को गौण या उपपदार्थ मानते हैं।

अभाव पदार्थ—भाव के विपरीत जिसका अभाव, अप्राप्ति, अनुपलब्धि एवं असत् हो, उसे अभाव पदार्थ कहते हैं। अभाव पदार्थ चार प्रकार के होते हैं प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव एवं अत्यान्ताभाव, जिनका विवेचन आगे किया जायेगा।

पदार्थ संख्याः—रामानुज के अनुसार चित्, अचित् और ईश्वर इस प्रकार तीन प्रकार के पदार्थ होते हैं। चित् से जीव, अचित् से जगत् तथा ईश्वर से ईश्वर, सर्वव्यापी तत्त्व व अव्यक्त का ग्रहण किया जाता है। **वैशेषिक दर्शन**-द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, और समवाय ये ६ पदार्थ मानता है। नव्य-न्यायशास्त्र में उपर्युक्त सामान्यादि ६ पदार्थों के अतिरिक्त अभाव को और माना है। जैन दर्शन ७ पदार्थ मानता है। यथा-आश्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, जीव और अजीव। गौतम सूत्र में १६ पदार्थों का वर्णन है। यथा—प्रमाण, प्रमेय, संश्रय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान। पांतञ्जल ने २५ भंट्टारक नें ४ और प्रभाकर मिश्र ने ८ पदार्थ मानें हैं। माधव सम्प्रदाय ८ पदार्थों को स्वीकार करता है। यथा—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, विशिष्ट-अंशी, शक्ति, तथा अभाव। **आचार्य चरक** ने वैशेषिकोक्त ६ पदार्थ गृहीत किए हैं। **सुश्रुताचार्य** की पदार्थ विषयक विचारणा बहुत विस्तृत है। उन्होंनें "अपरिमिताश्च पदार्थाः" कहकर असंख्य पदार्थ माने हैं।

अभाव का लक्षणः—"प्रतियोगिज्ञानाधीनज्ञानविषयत्वमभावत्वम्" जिस पदार्थ का ज्ञान उसके विरोधी के ज्ञान के अधीन हो, उसे अभाव कहते हैं। "भावभिन्नत्वमभावत्वमिति परे" भाव से भिन्नत्व का नाम अभाव है। वस्तुतस्तु किसी वस्तु का न होना ही अभाव कहलाता है। काल के आधार पर यह तीन प्रकार का हो सकता है। वर्तमान कालिक, भूतकालिक एवं भविष्यत्-

कालिक। वर्तमान में किसी वस्तु का अभाव वर्तमानकालिक, भूतकाल में किसी वस्तु की अनुपलब्धि भूतकालिक एवं भविष्यत् में किसी वस्तु की अविद्यमानता भविष्यत्कालिक अभाव कहलाता है।

अभाव के भेदः—

"अभावस्तु द्विधा, संसर्गान्योन्याभावभेदतः।
प्रागभावस्तथाध्वंसोऽप्यत्यन्ताभाव एव च ॥"
एवं त्रैविध्यमापन्नः संसर्गाभाव इष्यते ॥

अभाव के दो भेद हैं—संसर्गाभाव एवं अन्योन्याभाव। **संसर्गाभाव**—दो वस्तुओं में संसर्ग या सम्बन्ध के अभाव को संसर्गाभाव कहते हैं। यह तीन प्रकार का होता है-प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव और अत्यन्ताभाव। **प्रागभाव**—कार्य की उत्पत्ति से पूर्व जिसका अभाव हो, उसे प्रागभाव कहते हैं। यथा—घट की उत्पत्ति के पूर्व उस का अभाव। यह अभाव अनादि काल से था जब घट बन गया तब इसका अन्त हो गया। इसलिये प्रागभाव अनादि और सान्त कहा जाता है। **प्रध्वंसाभाव**—किसी उत्पन्न कार्य द्रव्य के नष्ट हो जाने पर जो अभाव होता है, वह प्रध्वंसाभाव कहलाता है। यथा—फूटे हुए घड़े के टुकड़ों में घड़े का अभाव। यह अभाव घड़े के फूटने के समय से उत्पन्न होता है एवं अनन्त काल तक रहता है, क्योंकि, जो घड़ा फूट गया है, वह पुनः लौट कर नहीं आ सकता। अतः प्रध्वंसाभाव सादि एवं अनन्त होता है। **अत्यन्ताभाव**—दो वस्तुओं में त्रैकालिक (भूत, भविष्यत्, वर्तमान सम्बन्ध के अभाव को अत्यन्ताभाव कहते हैं। यथा—वायु में रूप का अभाव इस अभाव की न कभी उत्पत्ति होती है और न ही अन्त। इसलिए अत्यन्ताभाव अनादि और अनन्त होता है। **अन्योन्याभाव**—एक वस्तु का दूसरी वस्तु में अभाव अन्योन्याभाव कहलाता है। जैसे अग्नि में जल का अभाव। इसकी भी न उत्पत्ति होती है और न अन्त। अतः यह भी अनादि और अनन्त है।

आयुर्वेद में अभाव को न मानने का रहस्य—(१) पदार्थ या तत्त्व जिस किसी भी संज्ञा से जिस किसी भी दर्शन शास्त्र में वर्णित किये गये हैं

कालिक। वर्तमान में किसी वस्तु का अभाव वर्तमानकालिक, भूतकाल में किसी वस्तु की अनुपलब्धि भूतकालिक एवं भविष्यत् में किसी वस्तु की अविद्यमानता भविष्यत्कालिक अभाव कहलाता है।

अभाव के भेदः—

"अभावस्तु द्विधा, संसर्गान्योन्याभावभेदतः।
प्रागभावस्तथाध्वंसोऽप्यत्यन्ताभाव एव च॥"
एवं त्रैविध्यमापन्नः संसर्गाभाव इष्यते॥

अभाव के दो भेद हैं—संसर्गाभाव एवं अन्योन्याभाव। **संसर्गाभाव**—दो वस्तुओं में संसर्ग या सम्बन्ध के अभाव को संसर्गाभाव कहते हैं। यह तीन प्रकार का होता है-प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव और अत्यन्ताभाव। **प्रागभाव**—कार्य की उत्पत्ति से पूर्व जिसका अभाव हो, उसे प्रागभाव कहते हैं। यथा—घट की उत्पत्ति के पूर्व उस का अभाव। यह अभाव अनादि काल से था जब घट बन गया तब इसका अन्त हो गया। इसलिये प्रागभाव अनादि और सान्त कहा जाता है। **प्रध्वंसाभाव**—किसी उत्पन्न कार्य द्रव्य के नष्ट हो जाने पर जो अभाव होता है, वह प्रध्वंसाभाव कहलाता है। यथा—फूटे हुए घड़े के टुकड़ों में घड़े का अभाव। यह अभाव घड़े के फूटने के समय से उत्पन्न होता है एवं अनन्त काल तक रहता है, क्योंकि, जो घड़ा फूट गया है, वह पुनः लौट कर नहीं आ सकता। अतः प्रध्वंसाभाव सादि एवं अनन्त होता है। **अत्यन्ताभाव**—दो वस्तुओं में त्रैकालिक (भूत, भविष्यत्, वर्तमान) सम्बन्ध के अभाव को अत्यन्ताभाव कहते हैं। यथा—वायु में रूप का अभाव। इस अभाव की न कभी उत्पत्ति होती है और न ही अन्त। इसलिए अत्यन्ताभाव अनादि और अनन्त होता है। **अन्योन्याभाव**—एक वस्तु का दूसरी वस्तु में अभाव अन्योन्याभाव कहलाता है। जैसे अग्नि में जल का अभाव। इसकी भी न उत्पत्ति होती है और न अन्त। अतः यह भी अनादि और अनन्त है।

आयुर्वेद में अभाव को न मानने का रहस्य—(१) पदार्थ या तत्त्व जिस किसी भी संज्ञा से जिस किसी भी दर्शन शास्त्र में वर्णित किये गये हैं

वहाँ इनको संसार या सृष्टि में कारणत्वेन स्वीकार किया गया है। आयुर्वेद वैशेषिकदर्शनोक्त सामान्यादि सात पदार्थों में से अभाव को छोड़ कर शेष ६ पदार्थों को मानता है। इसी प्रकार—न्याय दर्शनोक्त नो कारण द्रव्यों व सांख्योक्त २५ तत्त्वों को भी स्वीकार करता हुआ इन सभी पदार्थों, द्रव्यों एवं तत्त्वों को कारणत्वेन वर्णित करता है। आयुर्वेद के सिद्धान्तानुसार अभाव के अतिरिक्त उपर्युक्त सभी की कारणता सिद्ध हो जाने से वे मान्य किये गये हैं। परन्तु अभाव से सृष्टि होती हो या सृष्टि में किसी प्रकार की कारणता मानी जाती हो, ऐसा नहीं होने से अभाव को नहीं माना गया है। (२) आयुर्वेद सत्कार्यवाद को मानकर चलता है। उसके मतानुसार सत् (भाव) से उत्पत्ति हो सकती है न कि असत् (अभाव) से। जैसाकि सत्कार्यवाद के प्रसङ्ग में स्पष्ट किया गया है। अभाव क्योंकि असत् है, अतः उसे नहीं माना जा सकता। (३) नैय्यायिकों की यह मान्यता कि द्रव्य जब उत्पन्न होता है उस क्षण, उसमें गुण का अभाव होता है और द्वितीय क्षण में उसकी उत्पत्ति होती है। परन्तु आयुर्वेद **"तदानीमपितन्नागुणम्"** उस समय (उत्पत्ति के समय) में भी वह अगुण नहीं होता। इस प्रकार नैय्यायिकों के यहाँ अभाव से भाव की उत्पत्ति को स्वीकार करके अभाव सहित छः पदार्थ माने गये और आयुर्वेद में अभाव से उत्पत्ति को नहीं मान कर भाव से ही उत्पत्ति को स्वीकार किया गया। आयुर्वेद और न्याय दर्शन में यही मतभेद मौलिक रूप से दृष्टिगोचर होता है। (४) आयुर्वेद एक प्रायोगिकशास्त्र है जिसके लिए भाव पदार्थ ही प्रायोगिकरूपेण ग्राह्य हो सकते हैं। अभाव पदार्थ से प्रायोगिक कर्म नहीं हो सकता। (५) न्याय, वैशेषिक या सांख्य सभी दर्शनशास्त्रों में पदार्थों या तत्त्वों की सूक्ष्म या आद्यअवस्था का परिज्ञान कर मुक्ति की ओर अग्रसर होना बतलाया गया है। आयुर्वेद में उक्त ज्ञान के साथ भौतिक पदार्थों का आहरण कर उनका स्थूल रूप में प्रयोग करना पड़ता है तभी आयुर्वेद के प्रयोजन की सिद्धि हो सकती है। इस प्रकार के प्रयोग की प्रधानता उन शास्त्रों का चरम लक्ष्य नहीं है। अतः आयुर्वेद अभाव को पदार्थ के रूप में मानने में अपने आपको असमर्थ पाता है। (६) जिस प्रकार तम को दशम द्रव्य नहीं मान कर तेज का अभाव माना गया है और उसकी स्वतन्त्रसत्ता नहीं मानी गई, उसी

वहाँ इनको संसार या सृष्टि में कारणत्वेन स्वीकार किया गया है। आयुर्वेद वैशेषिकदर्शनोक्त सामान्यादि सात पदार्थों में से अभाव को छोड़ कर शेष ६ पदार्थों को मानता है। इसी प्रकार—न्याय दर्शनोक्त नो कारण द्रव्यों व सांख्योक्त २५ तत्त्वों को भी स्वीकार करता हुआ इन सभी पदार्थों, द्रव्यों एवं तत्त्वों को कारणत्वेन वर्णित करता है। आयुर्वेद के सिद्धान्तानुसार अभाव के अतिरिक्त उपर्युक्त सभी की कारणता सिद्ध हो जाने से वे मान्य किये गये हैं। परन्तु अभाव से सृष्टि होती हो या सृष्टि में किसी प्रकार की कारणता मानी जाती हो, ऐसा नहीं होने से अभाव को नहीं माना गया है। (२) आयुर्वेद सत्कार्यवाद को मानकर चलता है। उसके मतानुसार सत् (भाव) से उत्पत्ति हो सकती है न कि असत् (अभाव) से। जैसाकि सत्कार्यवाद के प्रसङ्ग में स्पष्ट किया गया है। अभाव क्योंकि असत् है, अतः उसे नहीं माना जा सकता। (३) नैय्यायिकों की यह मान्यता कि द्रव्य जब उत्पन्न होता है उस क्षण, उसमें गुण का अभाव होता है और द्वितीय क्षण में उसकी उत्पत्ति होती है। परन्तु आयुर्वेद **"तदानीमपितन्नागुणम्"** उस समय (उत्पत्ति के समय) में भी वह अगुण नहीं होता। इस प्रकार नैय्यायिकों के यहाँ अभाव से भाव की उत्पत्ति को स्वीकार करके अभाव सहित छः पदार्थ माने गये और आयुर्वेद में अभाव से उत्पत्ति को नहीं मान कर भाव से ही उत्पत्ति को स्वीकार किया गया। आयुर्वेद और न्याय दर्शन में यही मतभेद मौलिक रूप से दृष्टिगोचर होता है। (४) आयुर्वेद एक प्रायोगिकशास्त्र है जिसके लिए भाव पदार्थ ही प्रायोगिकरूपेण ग्राह्य हो सकते हैं। अभाव पदार्थ से प्रायोगिक कर्म नहीं हो सकता। (५) न्याय, वैशेषिक या सांख्य सभी दर्शनशास्त्रों में पदार्थों या तत्त्वों की सूक्ष्म या आद्यअवस्था का परिज्ञान कर मुक्ति की ओर अग्रसर होना बतलाया गया है। आयुर्वेद में उक्त ज्ञान के साथ भौतिक पदार्थों का आहरण कर उनका स्थूल रूप में प्रयोग करना पड़ता है तभी आयुर्वेद के प्रयोजन की सिद्धि हो सकती है। इस प्रकार के प्रयोग की प्रधानता उन शास्त्रों का चरम लक्ष्य नहीं है। अतः आयुर्वेद अभाव को पदार्थ के रूप में मानने में अपने आपको असमर्थ पाता है। (६) जिस प्रकार तम को दशम द्रव्य नहीं मान कर तेज का अभाव माना गया है और उसकी स्वतन्त्रसत्ता नहीं मानी गई, उसी

प्रकार भाव पदार्थों के नहीं होने को अभाव कहते हैं। यदिचेत् कथमपि अभाव को स्वीकार भी किया जावे तो प्रत्येक वस्तु का अभाव मानने से उसके असंख्य भेद होंगे और इस प्रकार वह कथमपि ज्ञेय नहीं हो सकेगा। (७) अभाव पदार्थ की कोई पारमार्थिक सत्ता नहीं है, वह तो केवल काल्पनिक, औपाधिक अथवा व्यावहारिक क्षेत्र में वर्णित किया गया है। अतएव आचार्य ने पदार्थ परिसंख्यान में अभाव का उल्लेख नहीं किया है। (८) व्यवहार जगत् में हम ऐसा अनुभव करते हैं कि प्रत्येक वस्तु की जहाँ सत्ता का प्रत्यक्षीकरण किया जाता है, वहाँ उसकी अनुपलब्धि भी होती है, यह ध्रुव सत्य है। इस अनुपलब्धि को भी जानने और स्वीकार करने का कोई प्रकार अवश्य होना चाहिए। इसी सिद्धान्त का आश्रय लेकर कई दर्शन अभाव को मानते है और इस प्रकार उनके यहाँ पदार्थों की संख्या ७ होती है। आचार्य सुश्रुत के "अपरिमिताः पदार्थाः" इस मत से भावाभावात्मक समस्त विवाद स्वतः समाप्त हो गया है परन्तु आचार्य चरक ने अभाव का परिसंख्यान नहीं करते हुए भी इस समस्या का समाधान बहुत ही युक्तिपूर्वक किया है। यह ध्रुव सत्य है कि अभाव तो अभाव ही होता है। अतः उसकी पारमार्थिक सत्ता कथमपि संभव नहीं है। परन्तु व्यवहार में जिसका प्रयोग और मान्यता ये दोनों ही प्रमाणित होने पर उसको सर्वथा नकारात्मक रूप से अस्वीकार करना उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। इसी मत का अवलम्बन करते हुए आचार्य चरक ने पदार्थों के परिगणन क्रम में अभाव को नहीं मानते हुए भी कई स्थलों पर इसका वर्णन किया है। इसी प्रकार चक्रपाणि आदि प्रमुख टीकाकारों ने भी तत्तत् स्थलों में इसका निर्देश किया है।

आचार्य चरक के द्वारा अभाव की मान्यता और उसके समाधान का प्रकार—

जिस प्रकार ५ महाभूत, ५ विषय और ५ ही इन्द्रियाँ जो कि उन विषयों को ग्रहण करती है या उन्हें प्रमाणित करती हैं, मानी गई हैं। अर्थात् पांचों इन्द्रियों द्वारा संसार के सभी पदार्थ या विषय जाने जाते हैं। ऐसी कोई भी वस्तु या विषय विशेष नहीं है, जो इनसे नहीं जाना जाता हो। अतः सर्वत्र पञ्चत्व संख्या का निर्धारण किया गया है। इन्हीं इन्द्रियों से इन महा-

भूतों तथा विषयों के भावात्मक स्वरूप का अवबोध होता है, वहाँ इन्हीं के द्वारा उनके अभाव का ज्ञान भी हो जाता है। यथा—"स्पर्शनेन्द्रियविज्ञेयः स्पर्शो हि सविपर्ययः" स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा ज्ञेय विषयस्पर्श तथा उसके विपरीत स्पर्शाभाव, ये दोनों ही स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा जाने जाते हैं। इस प्रकार यहाँ पर अभाव को मान्यता देते हुए भी उसकी पृथक् सत्ता को स्वीकार नहीं करते हैं तथा उसके ज्ञान का प्रकार भी निर्दिष्ट करते हैं। इस प्रकार के कई अन्य उद्धरण भी देखे जा सकते हैं, यथा—

१. "केचित्त्वत्रापि मन्यन्ते हेतुं हेतोरवर्तनम् ।" —च०सू०।

२. "नह्येकोवर्तते भावो वर्ततेनाप्यहेतुकः ।
शीघ्रगत्वात् स्वभावत्वभावो न व्यतिवर्तते ।" —च०शा०१।

३. द्विविधं खलु सर्वं सच्चासच्च । —च०सू०११। यहाँ पर चक्रपाणि तथा उपस्कार सत् से भाव तथा असत् से अभाव पदार्थों के ग्रहण करने का निर्देश करते हैं। पण्डितराज गंगाधर असत् के कई अर्थ करते हुए अभाव का भी उल्लेख करते हैं।

पदार्थों का साधर्म्य और वैधर्म्य—

समान धर्म को साधर्म्य एवं विशेष (असमान) धर्म को वैधर्म्य कहते हैं। पदार्थों के मध्य कुछ धर्म समान रूप से एवं कुछ असमान रूप से रहते हैं, अतः वे पदार्थों के साधर्म्य और वैधर्म्य कहलाते हैं। जिनका स्पष्टीकरण निम्नलिखित तालिका से हो जाता है—

क.सं	पदार्थ	साधर्म्य
१.	द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य विशेष, समवाय ।	अस्तित्व, अभिधेयत्व एवं ज्ञेयत्व ।
२.	द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और विशेष ।	समवायित्व और अनेकत्व ।
३.	गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय ।	निर्गुणत्व और निष्क्रियत्व ।

४. द्रव्य, गुण और कर्म	सत्ता सम्बन्ध, सामान्य विशेषत्व, और धर्माधर्मकर्तृत्व ।
५. सामान्य, विशेष और समवाय	स्वतः सत्ता, बुद्धि लक्षणत्व, अकार्यत्व, अकारणत्व, और नित्यत्व ।

पदार्थों का वैधर्म्य—(१) द्रव्य में गुण और कर्म रहते हैं। गुण और कर्म में द्रव्य नहीं रहते। (२) गुण और कर्म के वैधर्म्य को गुण के प्रकरण में देखें। (३) कारण द्रव्यों की संख्या ९, गुणों की संख्या ४१ और कर्मों की संख्या ५ अथवा अनन्त होती है जबकि सामान्य एवं विशेष की संख्या १ २ और ३ तक होती है। समवाय एक ही प्रकार का होता है। (४) आरम्भ या आहरण द्रव्य का ही होता है, अन्यों का नहीं।

पदार्थ विज्ञान और पाश्चात्य सिद्धान्त--

पाश्चात्य दर्शन में पदार्थ के लिए कोई उपयुक्त शब्द प्राप्त नहीं होता। "कैटेगरी" शब्द से भारतीय दर्शनों में प्रयुक्त पदार्थ के समस्त भाव का स्पष्टीकरण नहीं होता फिर भी पाश्चात्य दर्शन में पदार्थ के लिए "कैटेगरी" शब्द का ही प्रयोग हुआ है। जिसका प्रयोग सर्व प्रथम पाश्चात्य दार्शनिक अरस्तू ने एवं तदनन्तर प्रसिद्ध दार्शनिक कान्ट ने किया। यद्यपि दोनों की विचारधाराओं में भिन्नता थी परन्तु फिर भी दोनों के दार्शनिक सिद्धान्तों में कुछ सामञ्जस्य था। अरस्तु के अनुसार "कैटेगरी" दस हैं। यथा–सब्सटेन्स (द्रव्य), क्वान्टिटी (मात्रा), क्वालिटी (गुण), रिलेशन (सम्बन्ध), प्लेस (दिक्), टाइम (काल), कन्डीशन (दशा), सिच्युएशन (स्थिति), एक्टिविटी (कर्म) और पेशिविटी (अकर्म)।

चरकीय पदार्थानुबन्धन क्रम—

"सामान्यं च विशेषं च गुणान् द्रव्याणि कर्म च।
समवायञ्च तज्ज्ञात्वा तन्त्रोक्तं विधिमास्थिताः ॥"

न्याय शास्त्र में अन्नभट्ट ने "द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवाया-भावा सप्तपदार्थाः" इस क्रम से पदार्थानुक्रम निबद्ध किया है। उनके, विचार में द्रव्य कुछ परमाणु स्वरूप में और कुछ विभु स्वरूप में नित्य होते हैं। नित्य

होने वाले द्रव्य आदि क्षण में निगुर्ण और निष्क्रिय रहा करते हैं। सृष्टि के समारम्भ में सर्व प्रथम द्वयणुक संयोग के साथ ही उनमें गुण क्रिया का संमारम्भ हो जाता है, अतः द्रव्य गुण कर्म यह क्रम व्यवस्थित होता है। इस त्रिरूप विश्व का जो नानारूपाकृति नाम आदि से व्यवहार्य है का वर्गीकरण समान अर्हताओं के आधार पर करके पृथक् २ जातियों की कल्पना कर देते हैं। जिन समान अर्हताओं के आधार पर यह वर्गीकरण किया जाता है वे सामान्य या जाति कहलाती हैं। जो सामान्य या जाति वर्गीकृत द्रव्यगुण कर्म में समवेत रहती है—"सत्तावन्तस्त्रयस्त्वाद्याः"। इन वर्गीकृत जातियों की इकाइयों से जब व्यवहार होता है तब ये व्यक्ति या विशेष कहलाती हैं, इसलिए द्रव्य गुण कर्म के अनन्तर सामान्य विशेष का निबन्धन किया गया। जातिमान् और जाति में क्या सम्बन्ध है-इसके ज्ञान के लिए समवाय का निबन्धन भी किया और उसके अनन्तर इन सब भावों के विपरीत-रूप अभाव का। इस प्रकार अपने सिद्धान्तों की पुष्टि के अनुरूप सप्त पदार्थों का क्रम व्यवस्थित हुआ।

किन्तु-आत्रेय सांख्यसंवादी आचार्य हैं। उन्होंनें यदि वर्गीकरण हेतु नैय्यायिकों के पदार्थों का ग्रहण भी किया तो उनको पूर्ण सांख्य संवादी बनाकर, इसीलिए उन्होंने जो पदार्थानुक्रम प्रस्तुत किया वह अपने आप में प्रकृति विज्ञान का संवादी, और अव्यक्त से व्यक्त होने की मौलिक प्रक्रिया का परिचायक है। वे सामान्य केवल मात्र जाति या सत्ता तक ही सीमित नहीं मानते उन्होंने स्पष्ट कहा है "साम्यं प्रकृतिरुच्यते" साम्यावस्था — सामान्य-सत्ता — प्रकृति कहलाती है। अतः यह कहा जा सकता है कि सृष्टि के समारम्भ काल से पूर्व की स्थिति में केवल मात्र सामान्य था जिसको "सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः" के द्वारा बतलाया गया है। जब तीनों गुणों की साम्यावस्था रहती है तब विशेष नहीं होता वहां केवल सामान्य ही रहता है। जैसा कि, सर्व विदित है, पदार्थ परिज्ञान का प्रथम प्रयोजन सृष्टि या संसार के मूल कारणों से है, अतः सृष्टि का समारम्भ किस पदार्थ से कैसे तथा क्यों हुआ इसका परिचय हमें सामान्य से ही होता है जहां कि, सर्वथा एक रूपता होती है। किसी प्रकार की विषमता या विरुद्धता नहीं होती है

उसे ही सामान्य कहते हैं। इस प्रकार सामान्य प्रकृति है, जिसमें यह व्यक्त विश्व त्रिगुण साम्य हो जाने पर अव्यक्त रूप हो जाता है। अतः उस व्यक्त विश्व का आदि करण अव्यक्त—सामान्य ही सभी पदार्थों में सर्व प्रथम पढ़ा गया। आयुर्वेद के दो प्रयोजन हैं, व्याधि निवृत्ति और स्वास्थ्य संरक्षण। व्याधि की उत्पत्ति दोष-धातु-मलों के क्षय या वृद्धिगत होने पर होती है जिसके लिए लिखा गया है "क्षीणा वर्धयितव्याः, वृद्धा ह्रास यितव्याः।" क्षीणों की वृद्धि हेतु सामान्य तथा वृद्धों के ह्रास हेतु विशेष का उल्लेख किया है। जहां ये दोनों ही अवस्थायें नहीं हों वहां पर दोष धातु मलों को साम्यावस्था में रखना ही प्रयोजन है जिसके लिए "समाः पालयितव्याः" यह लिखा गया है यही स्वस्थ को स्वस्थ रखने का सिद्धान्त है। इस अवस्था को बनाये रखने के लिए सामान्य और विशेष इन दोनों का प्रयोग करना चाहिए जब कि उपर्युक्त-क्रम में केवल एक एक का ही प्रयोग करने का विधान है।

शरीर और संसार में कौन वस्तु समान और असमान है वहां पर भी रोग और योग दोष और द्रव्य में किसका सामान्यत्व और किसका असामान्यत्व है, यही चिकित्सक के लिए चरम लक्ष्य है, इसके विना ज्ञान के निदान तथा चिकित्सा दोनों ही नहीं कर सकता, अतः सर्व प्रथम सामान्य एवं विशेष का उल्लेख किया गया है।

उपर्युक्त विविधार्थावलोकन से यह निश्चित हो गया है कि, जहां दार्शनिक सामान्य को केवल जाति, विशेष को व्यक्ति, जैसे सीमित अर्थों में आबद्ध कर दिया है, वहां आयुर्वेद में इनका कार्य क्षेत्र बहुत विस्तृत बतलाया है। सामान्य व विशेष ही गति के कारण होते हैं, अतः सर्व प्रथम सामान्य का ग्रहण किया गया। परन्तु सामान्य और विशेष ये दोनों ही किससे वर्धन तथा क्षपण करते हैं, इसलिए इन तीनों के अनन्तर गुण का नाम निर्देश किया गया है, क्योंकि, किसी भी द्रव्य या व्यक्ति की महिमा उसका कार्मुकत्व उसके गुण से निश्चित किया जाता है। गुणों के द्वारा ही सभी क्रिया कलाप होते हैं, अतः तीसरी संख्या पर गुण शब्द का उल्लेख किया गया, परन्तु स्वतन्त्र रूपेण उसका प्रयोग नहीं हो सकता क्योंकि गुण विना द्रव्य के उपलब्ध नहीं होते और द्रव्याश्रित होकर ही कार्य

उसे ही सामान्य कहते हैं। इस प्रकार सामान्य प्रकृति है, जिसमें यह व्यक्त विश्व त्रिगुण साम्य हो जाने पर अव्यक्त रूप हो जाता है। अतः उस व्यक्त विश्व का आदि करण अव्यक्त—सामान्य ही सभी पदार्थों में सर्व प्रथम पढ़ा गया। आयुर्वेद के दो प्रयोजन हैं, व्याधि निवृत्ति और स्वास्थ्य संरक्षण। व्याधि की उत्पत्ति दोष-धातु-मलों के क्षय या वृद्धिगत होने पर होती है जिसके लिए लिखा गया है "क्षीणा वर्धयितव्याः, वृद्धा ह्रास यितव्याः।" क्षीणों की वृद्धि हेतु सामान्य तथा वृद्धों के ह्रास हेतु विशेष का उल्लेख किया है। जहां ये दोनों ही अवस्थायें नहीं हों वहां पर दोष धातु मलों को साम्यावस्था में रखना ही प्रयोजन है जिसके लिए "समाः पालयितव्याः" यह लिखा गया है यही स्वस्थ को स्वस्थ रखने का सिद्धान्त है। इस अवस्था को बनाये रखने के लिए सामान्य और विशेष इन दोनों का प्रयोग करना चाहिए जब कि उपर्युक्त-क्रम में केवल एक एक का ही प्रयोग करने का विधान है।

शरीर और संसार में कौन वस्तु समान और असमान है वहा पर भी रोग और योग दोष और द्रव्य में किसका सामान्यत्व और किसका असामान्यत्व है, यही चिकित्सक के लिए चरम लक्ष्य है, इसके विना ज्ञान के निदान तथा चिकित्सा दोनों ही नहीं कर सकता, अतः सर्व प्रथम सामान्य एवं विशेष का उल्लेख किया गया है।

उपर्युक्त विविधार्थावलोकन से यह निश्चित हो गया है कि, जहां दार्शनिक सामान्य को केवल जाति, विशेष को व्यक्ति, जैसे सीमित अर्थों में आबद्ध कर दिया है, वहां आयुर्वेद में इनका कार्य क्षेत्र बहुत विस्तृत बतलाया है। सामान्य व विशेष ही गति के कारण होते हैं, अतः सर्व प्रथम सामान्य का ग्रहण किया गया। परन्तु सामान्य और विशेष ये दोनों ही किससे वर्धन तथा क्षपण करते हैं, इसलिए इन तीनों के अनन्तर गुण का नाम निर्देश किया गया है, क्योंकि, किसी भी द्रव्य या व्यक्ति की महिमा उसका कार्मुकत्व उसके गुण से निश्चित किया जाता है। गुणों के द्वारा ही सभी क्रिया कलाप होते हैं, अतः तीसरी संख्या पर गुण शब्द का उल्लेख किया गया, परन्तु स्वतन्त्र रूपेण उसका प्रयोग नहीं हो सकता क्योंकि गुण बिना द्रव्य के उपलब्ध नहीं होते और द्रव्याश्रित होकर ही कार्य

कर सकते हैं। अतः उनके आधारभूत द्रव्य का नाम निर्देश किया गया। द्रव्य की महिमा भी उसके कर्मों से निर्धारित की जाती है। अतः द्रव्य के पश्चात् कर्म का उल्लेख किया गया है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हुआ कि ये सब मिले हुए हैं, अतः इनका सम्बन्ध कैसा है इसके लिए "**समवाय**" को सबके अन्त में पढ़ा गया है। पदार्थानुबन्धन क्रम के ज्ञान के साथ ही उक्त पद्य में आचार्य चरक ने चार चकार लिखे हैं, जिनका तात्पर्य यह है कि संसार में चार प्रकार की सत्ता या वर्ग होते हैं। इनमें प्रथम दो चकार से सामान्य और विशेष संज्ञक दो पदार्थों की दो सत्ताओं का निर्देश करते हैं। सामान्य विशेष नहीं और विशेष सामान्य नहीं हो सकता, अर्थात् सामान्य का विशेष में या विशेष का सामान्य में तथा द्रव्यादि शेष चारों में भी इन दोनों का समावेश सर्वथा असम्भव है। अतः इन दोनों की पृथक् पृथक् सत्तायें स्वीकार की गई हैं। तृतीय सत्ता में द्रव्य-गुण और कर्म इन तीनों के एक वर्ग को संगृहीत किया गया है। पुनरपि इन तीनों की उपलब्धियां एक साथ होती हैं। ये तीनों कहीं पर भी पृथक् नहीं रह सकते। अतः इन तीनों को एक वर्ग में रखने हेतु इनके अन्त में चकार का नियोजन किया गया है। चतुर्थ सत्ता समवाय सम्बन्ध की है, जिसको बतलाने के लिए चौथा चकार पढ़ा गया है, क्योंकि समवाय का भी पूर्वोक्त पांचों में समावेश नहीं हो सकता।

सामान्य और विशेष में भेद प्रतिपादनार्थ प्रथम दो चकार पढ़े गये हैं। तृतीय चकार का नियोजन गुण द्रव्य और कर्म इन तीनों के प्रत्येक के साथ अन्वय हेतु किया है। सामान्य और विशेष के साथ अन्वय हेतु समवाय के अनन्तर चकार लिखा गया है। इन चकारों के लिखने का तात्पर्य यह हुआ कि सामान्य स्वरूप द्रव्य, गुण, कर्म, समवाय तथा विशेष स्वरूप द्रव्य, गुण, कर्म और समवाय का ग्रहण होता है।

सामान्य विज्ञानीय

अध्याय ४

सामान्य निरूपण

सामान्य का लक्षण:—१. "सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम् ।" —च०सू०१ । २. "तुल्यार्थता हि सामान्यम् ।" —च०सू०१ । ३. "सामान्यमेकत्वकरम् ।" —च०सू०१ । ४. "वृद्धिः समानैः सर्वेषाम् ।" अ०हृ० सू१ । ५. "अनुवृत्तिप्रत्ययहेतु एकमनेकसमवेतं च सामान्यम् । तदेकत्वकरं वृद्धिकरं सादृश्यं च ।" —सप्तपदार्थी । ६. "नित्यमनेकानुगतं सामान्यम्, द्रव्यगुणकर्मवृत्ति, नित्यत्वेसत्यनेकसमवेतत्वमिति वा सामान्यलक्षणम् ।" सर्वदा समस्त समान भाव पदार्थों की वृद्धि करने वाला सामान्य होता है । तुल्यार्थ ही सामान्य कहलाता है । एकत्व कर को सामान्य कहते हैं । अपने विषय के समस्त द्रव्यों में रहने वाला आत्मस्वरूपानुगम प्रत्यय का उत्पादक तथा अनुवृत्ति के प्रत्यय का कारण हो उसे सामान्य कहते हैं । सामान्य नित्य, एक और अनेक में अनुगत, समवाय सम्बन्ध से रहता है । इससे एकत्व, वृद्धि तथा सादृश्य की उत्पत्ति होती है । यह सामान्य द्रव्य-गुण और कर्म इन तीनों में रहता है । इन उपर्युक्त लक्षणों से यह स्पष्ट हुआ कि, जिस पदार्थ के द्वारा भिन्न २ काल, देश और अवस्थाओं में अवस्थित या उत्पन्न अनेक पदार्थों में जो समानता का ज्ञान कराता है, उसे सामान्य कहते हैं । अर्थात् भेदक परिस्थितियों के होते हुए भी एक इस प्रकार का तत्वज्ञान उनमें रहता है, जिससे विभिन्न होते हुए भी हम उन सबको एक मानते है ।

सामान्य जाति :—सामान्य से यहाँ जाति का भी बोध किया जाता है, जिससे उपर्युक्त लक्षण घटित होता है । जैसे—गोत्व जाति के ज्ञान से संसार के समस्त भागों में रहने वाली रंग, गुण और अवस्थाओं के द्वारा भेद रूपात्मक होती हुई भी "गोत्व" इस जाति से भिन्न नहीं हो सकती और इसी

S.K.D.V.A. / P. 166.

न्याय वैशेषिक ने - चक्रपाणि के समान सामान्य & विशेष को - वृद्धि और - ह्रास के कारण द्रव्य आदि का लक्षण विशेषण धर्म नहीं माना।

अतः अनुव्यार्थता को सामान्य और अननुव्यार्थता को विशेष माना।

(I) सामान्यवाद विशेषवाद - सर्वदा सर्वभावानां से उक्त (चक्र:)

(II) द्रव्य सामान्य गुणसामान्य कर्मसामान्य तथाच न विशेषभी.

(III) अत्यंत मध्य और एकदेश. (")

(IV) एकवृत्ति, उभयवृत्ति. (")

पर, अपर

न्यायवैशेषिकोक्त अर्थ.

सामान्य = जाती &

विशेष = परमाणू.

आयुर्वेदीय अर्थ – पदार्थों का सामान्यता या भिन्नता

विरुद्धार्थी द्रव्य कर्तृ कारत्व.

में समाविष्ट होने से एक ही रूप में सभी जानी जाती हैं। अर्थात् इनमें भेद होते हुए भी जो इनका तात्त्विकज्ञान है, जो गोत्व धर्म है, वह सभी गायों में एक रूप से सदा से रहता आया है और आगे भी रहेगा। गायों के नष्ट होने पर भी गोत्व जाति का विनाश नहीं होगा। इसी बात को ध्यान में रखते हुए "नित्यत्वं अनेकानुगतं सामान्यम्" यह लक्षण किया गया है।

पदार्थों में भेद प्रतीति के होने पर भी तुल्य अर्थ को बतलाने वाला पदार्थ सामान्य कहलाता है। शुंठी और मरिच भी उष्ण अर्थ को बतलाती हैं। रक्तपित्त और ज्वर भी उष्ण अर्थ को बतलाते हैं। इस प्रकार इन ४ में उष्णत्व सामान्य है।

भाव के दो अर्थ करते हैं। **"भवन्ति सत्तामनुभवन्ति"** से सत्तावान् तथा **"भवन्ति – उत्पद्यन्ते इति भावाः"** के अनुसार उत्पत्तिशील सभी पदार्थ भाव शब्द वाच्य हैं। यहाँ पर सत्तावान् पदार्थों का विवेचन सभी आचार्य करते आये हैं, परन्तु, उत्पत्तिशील भाव भी यहाँ पर ग्रहण किये जाने चाहियें, क्योंकि, व्यवहार रूप में हम जिन वस्तुओं का प्रयोग करते हैं, वे सभी उत्पत्तिशील ही हैं तथा द्रव्यगुणकर्म व संसार के भी दोनों रूप होते हैं। जिसको हम निम्न प्रकार से समझ सकते हैं।

वैदिक मान्यताओं के आधार पर यह विश्व दो प्रकार का है—ऋत और सत्य, इस प्रकार दो प्रकार से संविभक्त इस विश्व के सम्पूर्ण पदार्थ भी दो ही प्रकार से वर्गीकृत हैं। ऋत पदार्थ और सत्य पदार्थ। ऋत पदार्थ वे हैं, जो सतत परिणामी हैं, वे निरन्तर क्षण प्रतिक्षण बदलते ही रहते हैं। ऐसे पदार्थों के स्थायी स्वरूप को पकड़ना, देखना, या जान लेना नितान्त असम्भव है, सत्य पदार्थ जो हैं वे अविपरिणामी हैं, कभी बदलते नहीं—वे पकड़े जा सकते हैं, देखे जा सकते हैं, या जाने जा सकते हैं, परन्तु, उन सत्य पदार्थों को देखने के लिए, पकड़ने के लिए, जानने के लिए, इन ऋत पदार्थों से बने यन्त्र-आँखे, हाथ और मस्तिष्क सक्षम नहीं हो सकते हैं। इसलिए तो दिव्य नेत्र, दिव्य-हाथ और दिव्य मस्तिष्क ही चाहिए, जो इस ऋत से अत्यन्त दूर हों। इन ऋत पदार्थों की समष्टि को आज तक के दार्शनिकों ने निरन्तर गतिशील, परिवर्तनशील और इसको क्षण प्रतिक्षण उत्पन्न विनष्ट होते

देखकर **"भाव पदार्थ"** माना। भाव पदार्थ उत्पन्न होते हैं—अपने कारण से कार्य में परिवर्तित होते हैं, पूर्वक्षण में भी उनकी सत्ता है—वह कारण रूप में और उत्तर क्षण में भी उनकी सत्ता है—वह कार्यरूप में, भाव का अर्थ—असत् से सत् का उत्पन्न होना नहीं, अपितु-सत् से सत् का उत्पन्न होना है अर्थात् कारण भी सत् है और कार्य भी सत्। इस विपरिणाम के कारण ही पूर्व-कालिक सत्ता–कारणसत्ता और परकालिक सत्ता कार्यसत्ता कहलाती है। पदार्थों का यह परिणाम क्रम अनन्तकाल से चला आ रहा है और सदानींतन चलता ही रहेगा इसका आदि और अन्त दोनों ही अविज्ञेय हैं।

इस प्रकार प्रतिक्षण उत्पन्न होने वाले सभी भाव पदार्थों की वृद्धि का कारण होता है **"सामान्य"** सामान्य का अर्थ है—समानता का भाव, अर्थात् समान वस्तु दूसरी समान वस्तु की वृद्धि का कारण होती है—एक समान हाथ पैरों आदि वाले एक सौ व्यक्तियों में उन्हीं के समान हाथ पैर वाला एक और व्यक्ति मिला दिया जावे तो उनकी वृद्धि हो जावेगी। एक समान रंग वर्णादि वाली गायों में वैसी ही यदि कुछ गायें और मिला दी जावें तो उन गायों की वृद्धि हो जावेगी। भाव पदार्थ—द्रव्य, गुण और कर्म तीन होते हैं, क्योंकि तीनों ही की उत्पत्ति होती है, तीनों ही में परिणाम होता है—फलतः सामान्य भी तीनों ही की वृद्धि का कारण होता है, समान द्रव्य, द्रव्यत्व सामान्य होने से द्रव्य को बढ़ाते हैं। समान गुण, गुणत्व सामान्य होने से गुण को बढ़ाते है, समान कर्म, कर्मत्व सामान्य होने से कर्म को बढ़ाते हैं।

सामान्य का आश्रय :—

जैसा कि, लिखा गया है **"द्रव्य-गुण-कर्म-वृत्ति-सामान्यम्।"** अर्थात् यह सामान्य, द्रव्य, गुण और कर्म में रहता है। इसके अतिरिक्त अन्य भावों में इसकी 'सत्ता नहीं रहती है। जैसा कि, आगे सामान्य के भेदों में स्पष्ट किया जावेगा। सामान्य भी सामान्य में नहीं होता, जैसे गुण में गुण नहीं होता। क्योंकि इस प्रकार के सिद्धान्त के मानने से कि प्रत्येक पदार्थ अपने आप में रहता है, तो अनवस्था दोष उपस्थित हो जायगा। सामान्य विशेष में भी नहीं रह सकता। क्योंकि, वह इसके सर्वथा विरुद्ध होता है। और समवाय एक प्रकार का सम्बन्ध है जो द्रव्य, गुण और कर्म मूलक होता

देखकर "भाव पदार्थ" माना। भाव पदार्थ उत्पन्न होते हैं—अपने कारण से कार्य में परिवर्तित होते हैं, पूर्वक्षण में भी उनकी सत्ता है—वह कारण रूप में और उत्तर क्षण में भी उनकी सत्ता है—वह कार्यरूप में, भाव का अर्थ—असत् से सत् का उत्पन्न होना नहीं, अपितु-सत् से सत् का उत्पन्न होना है अर्थात् कारण भी सत् है और कार्य भी सत्। इस विपरिणाम के कारण ही पूर्व-कालिक सत्ता–कारणसत्ता और पर कालिक सत्ता कार्यसत्ता कहलाती है। पदार्थों का यह परिणाम क्रम अनन्तकाल से चला आ रहा है और सदानींतन चलता ही रहेगा इसका आदि और अन्त दोनों ही अविज्ञेय हैं।

इस प्रकार प्रतिक्षण उत्पन्न होने वाले सभी भाव पदार्थों की वृद्धि का कारण होता है "सामान्य" सामान्य का अर्थ है—समानता का भाव, अर्थात् समान वस्तु दूसरी समान वस्तु की वृद्धि का कारण होती है—एक समान हाथ पैरों आदि वाले एक सौ व्यक्तियों में उन्हीं के समान हाथ पैर वाला एक और व्यक्ति मिला दिया जावे तो उनकी वृद्धि हो जावेगी। एक समान रंग वर्णादि वाली गायों में वैसी ही यदि कुछ गायें और मिला दी जावें तो उन गायों की वृद्धि हो जावेगी। भाव पदार्थ—द्रव्य, गुण और कर्म तीन होते हैं, क्योंकि तीनों ही की उत्पत्ति होती है, तीनों ही में परिणाम होता है—फलतः सामान्य भी तीनों ही की वृद्धि का कारण होता है, समान द्रव्य, द्रव्यत्व सामान्य होने से द्रव्य को बढ़ाते हैं। समान गुण, गुणत्व सामान्य होने से गुण को बढ़ाते है, समान कर्म, कर्मत्व सामान्य होने से कर्म को बढ़ाते हैं।

सामान्य का आश्रय :—

जैसा कि, लिखा गया है "द्रव्य-गुण-कर्म-वृत्ति-सामान्यम्।" अर्थात् यह सामान्य, द्रव्य, गुण और कर्म में रहता है। इसके अतिरिक्त अन्य भावों में इसकी 'सत्ता नहीं रहती है। जैसा कि, आगे सामान्य के भेदों में स्पष्ट किया जावेगा। सामान्य भी सामान्य में नहीं होता, जैसे गुण में गुण नहीं होता। क्योंकि इस प्रकार के सिद्धान्त के मानने से कि प्रत्येक पदार्थ अपने आप में रहता है, तो अनवस्था दोष उपस्थित हो जायगा। सामान्य विशेष में भी नहीं रह सकता। क्योंकि, वह इसके सर्वथा विरुद्ध होता है। और समवाय एक प्रकार का सम्बन्ध है जो द्रव्य, गुण और कर्म मूलक होता

है। इसलिए यही सिद्धान्त समीचीन प्रतीत होता है कि, सामान्य–द्रव्य, गुण और कर्म में ही रहता है।"भवन्ति सत्तामनुभवन्तीति-भावा, । द्रव्यगुण-कर्माणीत्यर्थ :—

इस प्रकार चक्रपाणि ने भी यहां पर भाव' शब्द से द्रव्य गुण और कर्म इन तीनों का ग्रहण किया है। व्यवहार में भी क्षय और वृद्धि के प्रसंगों में इन्हीं को कारण माना जाता है।

शरीर में किसी दोष धातु या मल विशेष की कमी होती है तब उसके समान द्रव्य गुण कर्म के प्रयोग से उसकी वृद्धि की जाती है। अतः सामान्य के तीन भेद किये जाते हैं। :—१–द्रव्यसामान्य २–गुणसामान्य और ३—कर्मसामान्य।

द्रव्य सामान्य :—

आतुर शरीरस्थ मांस और बाह्य जगत् में स्थित (किसी प्राणी शरीर से लाया गया मांस) मांस इन दोनों में मांसत्व सामान्य है। अतः मांसक्षय में मांस के उपयोग से मांस की वृद्धि होती है। यही नहीं जो मांसाशी पशु-पक्षी हैं, उनके मांस प्रयोग से सर्वाधिक तथा शीघ्रातिशीघ्र मांस का उपचय होता है, क्योंकि उन प्राणियों के मांस में सर्वाधिक मांसत्व सामान्य है। मांस से मांस की वृद्धि के लिए लिखा है—"नहि मांससमं किंचिदन्यद्देह बृहत्वकृत्" तथा—"शरीरबृंहणेनान्यत्खाद्यं मांसाद् विशिष्यते" इसी प्रकार रक्तादि धातुओं के क्षय में उन-उन धातुओं के प्रयोग का विधान प्राप्त होता है। इस प्रकार कोई भी द्रव्य स्वजातीय एवं स्वयोनि द्रव्य की वृद्धि में कारण होता है और इसी को द्रव्य सामान्य कहते हैं।

गुण सामान्य :—

शरीर के दोष धातु मलों में जिस गुण का ह्रास होता है, उसकी वृद्धि हेतु उन्हीं गुणों वाले द्रव्य का प्रयोग किया जाता है। क्योंकि, शरीरस्थ गुण और बाह्य जगत् के द्रव्य जिनका कि, प्रयोग किया जाता है, दोनों में गुणों की समानता या एकरूपता होती है, वही ऐक्यभाव वृद्धि का कारण होता है। यथा—शुक्रक्षय में दुग्ध के प्रयोग से शुक्र की वृद्धि होती है। क्योंकि,

दुग्ध में स्निग्धत्व, शीतत्व, मधुरत्वादि जो जो गुण हैं, वे वे गुण शुक्र में भी होते हैं। इस प्रकार दुग्ध और शुक्र के भिन्न जाति वाले होने पर भी दुग्ध गत गुण ही समानता के आधार पर शुक्र के वर्धक होते हैं (गुणों की समानता होने के कारण इसको गुण सामान्य कहते हैं)

कर्म सामान्यः—

किसी भी प्रकार के बाह्य कर्म के करने से शरीरस्थ कर्म की वृद्धि होती है, अर्थात् शरीरान्तर्गत जो कर्म विशेष होते रहते हैं उन कर्मों की समानता शरीर से बाहर होने वाले कर्मों से होने पर उन उन कर्मों की वृद्धि हो जाती है। जैसे धावन कर्म से शरीरस्थ वायु के चल कर्म की वृद्धि होती है। या यह कहें कि, धावन कर्म चलात्मक है, इसलिये इससे चलात्मक वायु की वृद्धि होती है। एक ही स्थान पर बैठे रहने से स्थिर, स्थिरता रूपात्मक कफ की वृद्धि होती है। इस प्रकार कर्म के सेवन से शरीरगत उसी कर्म की वृद्धि जिससे होती है, उसको कर्म सामान्य कहते हैं।

सामान्य के दो भेद—

१—उभयवृत्ति सामान्य और २—एकवृत्ति सामान्य। **उभयवृत्ति सामान्य-** उभयवृत्ति सामान्य उसे कहते है, जहां वर्धक और वर्धनीय दोनों में सामान्यत्व हो। जैसे मांस से मांस की वृद्धि होती है। यहां पर शरीर से बाह्य पोषकमांस एवं शरीरान्तर्गत पोष्य मांस, इन दोनों में सामान्य है। अतः इसको उभय-वृत्ति सामान्य कहते हैं। इसका दूसरा अर्थ यह भी किया जा सकता है कि, द्रव्य, गुण, कर्म इन तीनों में से किन्हीं दो की समानता से जहाँ वृद्धि हो सके, वहाँ उभयवृत्ति सामान्य होता है। ऐसा अर्थ करना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। **एकवृत्तिसामान्य**—एक वृत्ति सामान्य वह होता है, जहां एक पक्ष में समानता हो अर्थात् पोषक कार्य सामान्य कहलाता है। जैसे घृत के सेवन करने से अग्नि की वृद्धि होती है। यहा घृत और अग्नि के सामान्य न होने पर भी घृत से अग्नि की वृद्धि प्रभाव से होती है। इस प्रकार प्राचीन टीकाकारों का अभिमत है लेकिन, जहां प्रभाव के द्वारा कर्म का निर्देश किया जा रहा है, उसी को सामान्य का उद्धरण भी बतलाया जाता है। यह कथमपि मान्य

नहीं हो सकने पर यहाँ भी उसी प्रकार का अर्थ करना उपयुक्त होगा, जो उभय वृत्ति में किया गया है। अर्थात् द्रव्य, गुण, और कर्म इन तीनों में से किसी एक की समानता होने पर उसके प्रयोग से जो वृद्धि होती है, उसे एक देश सामान्य कहना चाहिये। यह निर्विवाद सत्य है कि, वृद्धि के प्रति द्रव्य, गुण, और कर्म ये तीनों कारण होते हैं। इनमें से किसी एक, दो या तीनों से सामान्य के आधार पर शरीर गत द्रव्य गुण या कर्म; इन तीनों में से किसी एक, दो या तीन की वृद्धि होती है। इन तीनों मे से किसी एक भी नहीं होने पर वृद्धि का होना सर्वथा असंभव है। यदि चेत् इनके विना ही वृद्धि हो जाती है, तब इस सिद्धान्त की स्थापना का कोई प्रयोजन ही शेष नहीं रह जाता है। सामान्य का सिद्धान्त प्रकृतिसमसमवाय पर आधारित है। इसके विपरीत जो भी वृद्धि के उद्धरण हमको प्राप्त होते हैं, वे सभी विकृतिविषमसमवायारब्ध होते हैं।

सामान्य के पुनः तीन भेद किये हैं—

१—अत्यन्त सामान्य, २—मध्य सामान्य और, ३—एक-देश सामान्य। अत्यन्त सामान्य का उद्धरण "**सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्**"। मध्य सामान्य का "**सामान्यमेकत्वकरम्**", एक देश सामान्य का "**तुल्यार्थता हि सामान्यम्**" दिया गया है। यद्यपि इससे अर्थ की संगति बैठ जाती है, परन्तु अधिक औचित्य निम्न निर्दिष्ट अर्थ में प्रतीत होता है। अत्यन्त सामान्य वह होता है, जहां पर द्रव्य, गुण और कर्म ये तीनों सामान्यत्वेन प्राप्त हों। मध्य सामान्य वह होता है, जहां द्रव्य, गुण और कर्म इन तीनों में से किन्हीं दो की प्राप्ति होती हो। एकदेश सामान्य का अर्थ है कि, जहाँ इन तीनों में से किसी एक के द्वारा कार्य किया जा रहा हो। सारांश यह है कि, यह निर्णय किया जा चुका है कि, द्रव्य, गुण और कर्म ही सामान्य के सिद्धान्त से वृद्धि के कारण होते हैं। इस परिस्थिति में जिस किसी भी शरीरस्थ दोषधातु मल का अभिवर्धन करना हो, वहाँ पर यदि उस दोष धातु मल से प्रयुज्यमान उपाय की द्रव्य, गुण और कर्म इन तीनों से समानता होती है, तभी शीघ्रातिशीघ्र तथा अधिक से अधिक मात्रा में वृद्धि हो सकती है, तभी उसको अत्यन्त **सामान्य** कह सकते हैं, न कि केवल द्रव्य मात्र के प्रयोग से। केवल द्रव्य के

प्रयोग को यहाँ उद्धरण के रूप में प्रस्तुत कर जो अर्थ किया जा रहा है, वह अत्यन्त ही सीमित या संकुचित स्थिति का द्योतक है।

किसी भी रोग विशेष को दूर करने के लिये जब भेषज प्रयोग किये जाते हैं, तब केवल द्रव्य सामान्य जिसको कि सर्वश्रेष्ठ माना गया है, से ही कार्य की सिद्धि संभव नहीं, अपितु द्रव्य गुण और कर्म इन तीनों का ही आश्रय लेकर चिकित्सा की जाती है तभी अतिसत्वर लाभ होता है। मांसक्षय में मांस के उद्धरण देने मात्र से समस्या का समाधान नहीं हो सकता। क्योंकि, ज्वरातिसार ग्रहणी प्रभृति समस्त रोगों में इस सिद्धान्त की स्थापना की है। ह्रास और वृद्धि के लिये सामान्य और विशेष ये ही दो सिद्धान्त आयुर्वेद ने स्थिर और सर्वात्मना स्वीकार भी किये हैं। इसी सिद्धान्त से यावन्मात्र रोगों के निराकरण की प्रक्रिया निश्चित करनी है। केवल सात धातुओं का क्षयमात्र ही तो रोग नहीं, उनमें अन्यान्य सभी निदान लक्षण उपद्रवादियों के परिज्ञानानन्तर ही भेषज प्रयोग किये जाते हैं।

सामान्य के अन्य भेद—

"सामान्यं द्विविधं प्रोक्तं परञ्चापरमेव च।
द्रव्यादित्रिकवृत्तिस्तु सत्तापरतयोच्यते।
परभिन्ना तु या जातिः सैवापरतयोच्यते।
द्रव्यत्वादिकजातिस्तु परापरतयोच्यते।
व्यापकत्वात् परापिस्याद्व्याप्यत्वादपरापि च।" कारिकावली।

सामान्य दो प्रकार का होता है—१-पर सामान्य और २-अपर सामान्य। द्रव्यादि तीनों पदार्थों में रहने वाली सत्ता को पर सामान्य तथा पर से भिन्न जाति को अपर सामान्य कहते हैं। द्रव्यादिक जाति तो परापर कही जाती है। व्यापक होने से पर तथा व्याप्य होने से अपर भी होती है। अर्थात् सबसे अधिक व्यक्तियों में अथवा अधिक देश में रहने वाली जाति पर सामान्य तथा कम व्यक्तियों अथवा अल्पदेश में रहने वाली अपर सामान्य कही जाती है। जो दोनों के बीच में रहने वाली जाति है, वह अपर सामान्य कहलाती है।

सामान्य और आयुर्वेद—

यद्यपि "सामान्य" सिद्धान्त के आविष्कारक वैशेषिक दर्शन के आचा-

कणाद माने जाते हैं और इन्हीं को इसका श्रेय प्राप्त हुआ है। परन्तु तथ्य यह है कि यह आयुर्वेद का मौलिक सिद्धान्त है जो कि आयुर्वेदीय ऐतिहासिक परम्परा से प्रमाणित है। सामान्य के उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि आयुर्वेद ने जिस प्रकार सामान्य के विशद व वास्तविक स्वरूप को समझ कर व्याख्यायें व इसके भेद किये हैं और व्यवहार में उसे प्रमाणित किया है, उतना किसी अन्य आचार्य ने नहीं। त्रिदोष, पञ्चभूत और द्रव्य गुण के सिद्धान्तों से शरीर और संसार इन दोनों में जो समानता का सिद्धान्त स्थिर किया है तथा जिस पर चिकित्सा विज्ञान आधारित है और इसी के बल पर पदे-पदे क्षणे-क्षणे यत्र-तत्र सर्वत्र सफलता प्राप्त होती है एवं आप्रलयांत होती रहेगी।

आयुर्वेद ने रोग ज्ञान और उसके निवारणतक ही इसको सीमित नहीं रखकर आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति हेतु भी लोक और पुरुष की साम्यता का अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्धान्त स्थिर किया है। शरीर और संसार के प्रत्येक भाव को एक रूप में रखने का सर्वप्रथम श्रेय आयुर्वेद को ही है। "पुरुषोऽयंलोकसंमितः" यह पुरुष जगत् के समान है, यह कह कर भगवान् पुनर्वसु आत्रेय अपने शिष्य अग्निवेश को "सामान्यमभिप्रेत्योदाहरिष्यामः, तानेकमना निबोध" सामान्य को दिखाने के अभिप्राय से उद्धरण प्रस्तुत कर रहे हैं, उन सबको एकाग्रचित्त से समझो, इस प्रकार निर्देश देते हैं और विस्तार के साथ विवेचन भी। जिसका कि वर्णन पुरुष विवेचन के प्रसङ्ग में आगे देखेंगे।

सामान्य के उपर्युक्त लक्षण के होते हुये भी यह अपेक्षा बुद्धि से जाना जाता है और इसी कारण जो सामान्य कहा जाता है वह विशेष भी हो जाता है, जबकि, पूर्व में यह लिख आये हैं कि, सामान्य विशेष नहीं और विशेष भी सामान्य नहीं। यथा—संसार दो वर्गों में विभक्त है—अव्यक्त और व्यक्त। एक वर्ग में आने वाले सामान्य होते हैं। इस प्रकार व्यक्त वर्ग में आये हुये तत्त्व व्यक्तत्वेन समान हैं, परन्तु, पांचों महाभूत जो कि व्यक्त वर्ग में है, विशेष ही कहलाते हैं, समान नहीं। क्योंकि, पांचों महाभूतों के स्वरूप-गुण-कर्म परस्पर में भिन्न हैं। अतः इनके विशेष होते हुए भी जैसे—वायु और जल शीतत्वेन, वायु और आकाश लघुत्वेनन समान ही माने जाते है। इस प्रकार सर्वत्र अपेक्षा-बुद्धि से निर्णय करना चाहिये।

———

विशेष विज्ञानीय

अध्याय ५

विशेष निरूपण

विशेष लक्षण :—

१. "ह्रासहेतु विशेषश्च ।"—च०सू० १ । ह्रास के कारण को विशेष कहते हैं । २. "विशेषस्तु पृथक्त्वकृत् ।" च०सू० १ । पृथक्त्व कर को विशेष कहते हैं । ३. "विशेषस्तु विपर्ययः ।" च०सू० १ । विपरीत ही विशेष है । ४. "अत्यन्तव्यावृत्तिहेतुर्विशेषः ।" बहुतसी वस्तुओं में से किसी एक को अत्यन्त रूप से पृथक् करने वाले को विशेष कहते हैं । ५. "सजातीयेभ्यो व्यावर्तनं विशेषः ।" —वामनाचार्य । सजातीय द्रव्यों से पृथक् करने वाला विशेष होता है । ६. "व्यावृत्तिप्रत्ययहेतुरनेकः प्रतिद्रव्यसमवेतो विशेषः स ह्रास-हेतुः पृथक्त्वकृत् वैसादृश्यश्च ।" पदार्थों के व्यावृत्ति प्रत्यय का हेतु, अनेक, प्रतिद्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहने वाला, ह्रास का हेतु, पृथक्त्व और वैसादृश्य करने वाला विशेष होता है । ७. "सामान्यरहितत्वे सति नित्यैक-द्रव्यमात्रवृत्तिर्विशेषः ।" सामान्य के अभाव में नित्य, एक और द्रव्यमात्र में रहने वाला विशेष होता है । ८. "अजातिरेकवृत्तिश्च विशेष इति शिष्यते ।" जाति रहित और एकवृत्ति वाला विशेष कहलाता है । ९. समानैः सर्वभावानां वृद्धिर्ह्रानि विपर्ययात् ।" —अनुकर्णः । समान से सभी भावों की वृद्धि तथा विपर्यय – विशेष से ह्रास होता है । आचार्य गंगाधर इसी प्रकार के विशेष के दो लक्षण करते हैं । यथा—१०. सर्वेषां भावानां द्रव्यगुणकर्मणां विशेषो ह्रास हेतुः । ११. विशिष्टो हि भावो विशिष्टानि द्रव्यगुणकर्माणि ह्रासयितुं प्रयुक्त इति विशिष्टानां द्रव्यगुणकर्मणां ह्रास प्रयोजको विशेषः —गंगाधर ।

जिस प्रकार सामान्य का प्रयोग वृद्धि मूलक होता है, उसके सर्वथा विरुद्ध विशेष का प्रयोग ह्रासमूलक होता है । जहाँ सामान्य भिन्न देश, काल

और अवस्थाओं में प्राप्त पदार्थों के एक साथ, एक जगह और एक जैसा करने में सक्षम होता है, ठीक इसके विपरीत विशेष उन्हीं को विपरीत दिशा, विपरीत श्रेणी और विपरीत अवस्था में अवस्थित करने में सक्षम होता है। अर्थात् जो शक्ति सामान्य संज्ञक पदार्थ में संघटन करने की है, उसके स्थान पर विशेष में विघटन करने की है। इस विघटन शक्ति से ही आत्मा, मन और पृथ्वी आदि के परमाणु परस्पर में भिन्न २ अवस्थाओं में स्थित हैं।

विशेष और वैशेषिक दर्शन—

किन-किन भावों में किस २ प्रकार की समानता और असमानता है यही तत्त्वतः ज्ञेय होता है। इन दोनों प्रकार के ज्ञान के अभाव में अन्य सभी ज्ञेय विषयों के ज्ञात करने पर भी शरीर और संसार दोनों ही अविज्ञात स्थिति में रह जाते हैं। संसार के सभी दार्शनिकों ने अपने अपने निजी अनुभव व अनेक सिद्धान्तों से जगत् को आलोकित किया है, इसी क्रम में आचार्य **"कणाद"** ने चींटी से हाथी, परमाणु से पहाड़, अव्यक्त से व्यक्त, कारण से कार्य तक संसार के समस्त भावों में विशेष नामक पदार्थ की परिकल्पना करके उसको स्थिर किया है। इससे यह सिद्ध हुआ कि समस्त भावों की पृथक् सत्ता है, इन सबके पृथक् २ गुण कर्म हैं। परिणामतः सम्पूर्ण संसार में विशेष प्राप्त होता है। इस विशेष संज्ञक पदार्थ के अविष्कार करने के कारण ही कणाद के इस दर्शन का नाम **"वैशेषिकदर्शन"** हुआ और इसी कारण अन्य दर्शनों में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

विशेष का वैशिष्ट्य—

विशेष की ही यह महिमा है कि संसार बना और तदन्तर्गत जड़ तथा चेतन जैसे अन्य विभाग और उप भाग बने तथा अब भी उनकी प्रक्रिया चल रही है और भविष्यत्काल में आप्रलयान्त चलती ही रहेगी। संसार की प्रत्येक वस्तु का ज्ञान, नाम, व्यवहार रूप, भेद जो भी दिखाई देते हैं, उनका मौलिक कारण विशेष ही है। यदि विशेष न हो और केवल सामान्य ही रहे तो किसी भी वस्तु की उत्पति हो ही नहीं सकती और नाम व भेद व्यवहार मूलक ज्ञान भी कभी भी नहीं हो सकता। भेद, विरुद्ध, विचित्र, विशिष्ट आदि, संज्ञा से व्यवहृत होने वाले विशेष पदार्थ ही तो संसार और शरीर है तथा सांसारिक

व्यवहार व ज्ञान भी इन्हीं से होता है। यदि विशेष न हो और केवल सामान्य ही रहे तो कैसी उत्पत्ति और कैसा व्यवहार।

विशेष और आयुर्वेद—

सामान्य की भांति विशेष को भी आयुर्वेद ने बहुत ही स्पष्ट और व्यापक रूप से समझकर प्रस्तुत किया है। रोगों की उत्पत्ति और उनका शमन, जन्म और मरण, सृष्टि और लय, प्रत्येक वस्तु का संरक्षण और संहरण, स्वस्थ के स्वास्थ्य का स्थिरीकरण आदि सभी भावों में विशेष की कारणता, स्पष्टतया परिलक्षित होती है, जिसको आयुर्वेद के आचार्यों ने पूर्ण वैज्ञानिक पद्धति से तत्तद् ग्रन्थों में यथास्थान प्रमाणित किया है। शरीर के प्रत्येक अङ्ग, उपाङ्ग और प्रत्यङ्गों के स्वरूप व कर्मसमूह को पृथक २ व्यवस्थित करके विशेष पदार्थ के द्वारा ही समग्र शरीर का अध्ययन किया है। इसी प्रकार संसार के प्रत्येक द्रव्य और तदन्तर्गत शक्तियों को भी विशेष रूप में प्रस्तुत कर द्रव्य गुण, विज्ञान के सिद्धान्त स्थिर किये हैं। उन्हीं का ही यह परिणाम है कि, हम गुडूची गोधूमादि को तथा इनकी सभी शक्तियों को पृथक् २ रूप से जानते है और उनका प्रयोग भी करते हैं। त्रिदोष और त्रिगुण सिद्धान्त भी इसी विशेष पर अवलम्बित है।

सामान्य के विपरीत विशेष के होने हेतु सामान्य के जैसे जितने भेदोपभेद किये गये हैं, उतने ही भेदोपभेद विशेष के भी होते है। सामान्य की भांति विशेष के लिये भी आचार्य चरक ने नीचे लिखे तीन वाक्य लिखे हैं १—"ह्रासहेतुर्विशेषश्च" २—"विशेषस्तु पृथक्त्वकृत्" ३—"विशेषस्तु विपर्ययः" इन तीनों को क्रमशः द्रव्य गुण, और कर्म परक मानते है, जिनको नीचे लिखे वर्णन से समझा जा सकता है। **द्रव्यविशेष**—शरीर में वृद्धिगत कफ व मेद को क्षीण करने के लिये मधु एवं शहद और त्रिफला, पित्त के लिये आंवला, वायु के लिये तेल का जो प्रयोग किया जाता है, इसको द्रव्य विशेष कहते हैं। **गुणविशेष**—शरीर में रूक्षगुण की वृद्धि होने पर उसके क्षय निमित्त स्निग्ध गुण वाले द्रव्य का प्रयोग किया जाता है, उसे गुणविशेष कहते है। **कर्मविशेष** – वृद्धिगत वायु के लिये शमन व कफ के लिये धावन कर्म किया जाता है, जिसको कर्म विशेष कहते हैं।

व्यवहार व ज्ञान भी इन्हीं से होता है। यदि विशेष न हो और केवल सामान्य ही रहे तो कैसी उत्पत्ति और कैसा व्यवहार।

विशेष और आयुर्वेद—

सामान्य की भांति विशेष को भी आयुर्वेद ने बहुत ही स्पष्ट और व्यापक रूप से समझकर प्रस्तुत किया है। रोगों की उत्पत्ति और उनका शमन, जन्म और मरण, सृष्टि और लय, प्रत्येक वस्तु का संरक्षण और संहरण, स्वस्थ के स्वास्थ्य का स्थिरीकरण आदि सभी भावों में विशेष की कारणता, स्पष्टतया परिलक्षित होती है, जिसको आयुर्वेद के आचार्यों ने पूर्ण वैज्ञानिक पद्धति से तत्तद् ग्रन्थों में यथास्थान प्रमाणित किया है। शरीर के प्रत्येक अङ्ग, उपाङ्ग और प्रत्यङ्गों के स्वरूप व कर्मसमूह को पृथक २ व्यवस्थित करके विशेष पदार्थ के द्वारा ही समग्र शरीर का अध्ययन किया है। इसी प्रकार संसार के प्रत्येक द्रव्य और तदन्तर्गत शक्तियों को भी विशेष रूप में प्रस्तुत कर द्रव्य गुण, विज्ञान के सिद्धान्त स्थिर किये हैं। उन्हीं का ही यह परिणाम है कि, हम गुडूची गोधूमादि को तथा इनकी सभी शक्तियों को पृथक् २ रूप से जानते हैं और उनका प्रयोग भी करते हैं। त्रिदोष और त्रिगुण सिद्धान्त भी इसी विशेष पर अवलम्बित है।

सामान्य के विपरीत विशेष के होने हेतु सामान्य के जैसे जितने भेदोपभेद किये गये हैं, उतने ही भेदोपभेद विशेष के भी होते हैं। सामान्य की भांति विशेष के लिये भी आचार्य चरक ने नीचे लिखे तीन वाक्य लिखे हैं १—"ह्रासहेतुर्विशेषश्च" २—"विशेषस्तु पृथक्त्वकृत्" ३—"विशेषस्तु विपर्ययः" इन तीनों को क्रमशः द्रव्यगुण, और कर्म परक मानते हैं, जिनको नीचे लि[खे] वर्णन से समझा जा सकता है। द्रव्यविशेष—शरीर में वृद्धिगत कफ व मे[द] को क्षीण करने के लिये मधु एवं शहद और त्रिफला, पित्त के लि[ये] आंवला, वायु के लिये तेल का जो प्रयोग किया जाता है, इसको द्रव्य विशेष कहते हैं। गुणविशेष—शरीर में रूक्षगुण की वृद्धि होने पर उस क्षय निमित्त स्निग्ध गुण वाले द्रव्य का प्रयोग किया जाता है, उसे गुणवि[शेष] कहते है। कर्मविशेष – वृद्धिगत वायु के लिये शमन व कफ के लिये धा[वन] ... है जिसको कर्म विशेष कहते हैं।

व्यवहार व ज्ञान भी इन्हीं से होता है। यदि विशेष न हो और केवल सामान्य ही रहे तो कैसी उत्पत्ति और कैसा व्यवहार।

विशेष और आयुर्वेद—

सामान्य की भांति विशेष को भी आयुर्वेद ने बहुत ही स्पष्ट और व्यापक रूप से समझकर प्रस्तुत किया है। रोगों की उत्पत्ति और उनका शमन, जन्म और मरण, सृष्टि और लय, प्रत्येक वस्तु का संरक्षण और संहरण, स्वस्थ के स्वास्थ्य का स्थिरीकरण आदि सभी भावों में विशेष की कारणता, स्पष्टतया परिलक्षित होती है, जिसको आयुर्वेद के आचार्यों ने पूर्ण वैज्ञानिक पद्धति से तत्तद् ग्रन्थों में यथास्थान प्रमाणित किया है। शरीर के प्रत्येक अङ्ग, उपाङ्ग और प्रत्यङ्गों के स्वरूप व कर्मसमूह को पृथक २ व्यवस्थित करके विशेष पदार्थ के द्वारा ही समग्र शरीर का अध्ययन किया है। इसी प्रकार संसार के प्रत्येक द्रव्य और तदन्तर्गत शक्तियों को भी विशेष रूप में प्रस्तुत कर द्रव्य गुण, विज्ञान के सिद्धान्त स्थिर किये हैं। उन्हीं का ही यह परिणाम है कि, हम गुडूची गोधूमादि को तथा इनकी सभी शक्तियों को पृथक् २ रूप से जानते हैं और उनका प्रयोग भी करते हैं। त्रिदोष और त्रिगुण सिद्धान्त भी इसी विशेष पर अवलम्बित है।

सामान्य के विपरीत विशेष के होने हेतु सामान्य के जैसे जितने भेदो
पभेद किये गये हैं, उतने ही भेदोपभेद विशेष के भी होते हैं। सामान्य की भां
विशेष के लिये भी आचार्य चरक ने नीचे लिखे तीन वाक्य लिखे हैं १—
"ह्रासहेतुर्विशेषश्च" २—"विशेषस्तु पृथक्त्वकृत्" ३—"विशेषस्तु विपर्ययः"
इन तीनों को क्रमशः द्रव्यगुण, और कर्म परक मानते हैं, जिनको नीचे लि
वर्णन से समझा जा सकता है। **द्रव्यविशेष**—शरीर में वृद्धिगत कफ व मे
को क्षीण करने के लिये मधु एवं शहद और त्रिफला, पित्त के लि
आंवला, वायु के लिये तेल का जो प्रयोग किया जाता है, इसको द्रव्य
विशेष कहते हैं। **गुणविशेष**—शरीर में रूक्षगुण की वृद्धि होने पर उस
क्षय निमित्त स्निग्ध गुण वाले द्रव्य का प्रयोग किया जाता है, उसे गुणविशे
कहते है। **कर्मविशेष** – वृद्धिगत वायु के लिये शमन व कफ के लिये धाव
कर्म किया जाता है, जिसको कर्म विशेष कहते हैं।

विशेष पदार्थ की व्याप्तिः—यह पदार्थ, नित्य द्रव्यों में जैसे–पृथ्वी, जल, तेज एवं वायु के परमाणुओं में तथा आकाश, काल, दिशा, मन और आत्मा में रहता है। नित्य द्रव्यों में रहने के कारण यह भी नित्य है। संख्या में अनेक होने के कारण अनन्त है। आत्मा आदि में इस के व्यापक होने से भी इसका आनन्त्य सिद्ध होता है। इसकी गति और उपलब्धि केवल कारण द्रव्यों तक ही सीमित नहीं है, अपितु कार्य द्रव्यों में गति और उपलब्धि दोनों ही प्रमाणित की जाती हैं।

सामान्य और विशेष का संयुक्त स्वरूप—

यद्यपि सामान्य और विशेष की पृथक् २ सत्ता व स्वरूप निर्दिष्ट किया जा चुका है और यह भी सत्य है कि, ये दोनों परस्पर सर्वथा विरुद्ध पदार्थ हैं, पुनरपि, इन दोनों की संयुक्त उपस्थिति के विना संसार का कोई भी कार्य द्रव्य उत्पन्न नहीं हो सकता और उसका स्थिरीकरण तथा विनाश भी इन दोनों पर ही आधारित रहता है। इन तीनों अवस्थाओं को हम शरीर की रचना और क्रिया से जान सकते हैं। शरीर की सप्त धातुयें व अन्य भाव परस्पर में विशेषता रखते हैं, उनकी इस विशेषता के कारए ही वे पहिचानी जाती हैं और शरीर को बनाये भी रखती हैं। यदि सभी सामान्य भाव हो जावें और विशेष न रहें तो शरीर भी नहीं रह सकता। जब शरीर का निर्माण होता है तब भी शुक्र और रज के संयोग से, जो कि, दोनों परस्पर में विरुद्ध हैं, यदि इन दोनों विरुद्धों का सम्मेलन न हो तो गर्भधारण नहीं हो सकता। शरीर में आहार और विहार के द्वारा निरन्तर सामान्य और विशेष दोनों ही एक साथ कार्य करते रहते हैं। जहाँ किसी द्रव्य से किसी भाव का वर्धन होता है वहाँ उसी द्रव्य से किसी अन्य भाव का क्षपण भी, इस क्षपण और वर्धन क्रम की परम्परा का ही यह परिणाम है कि शरीर और संसार दोनों यथावत् चलते रहते हैं।

द्रव्य विज्ञानीय

अध्याय ६

द्रव्य निरूपण

द्रव्य निरुक्ति—

द्रवति—गच्छति, परिणाममभीक्ष्णमिति द्रव्यम्। द्रवति—गच्छति संयोगविभागादिगुणानिति वा द्रव्यम्। इस प्रकार "द्रु" गतौ धातु से यत् प्रत्यय होकर द्रव्य शब्द बनता है। गति के तीन अर्थ—ज्ञान, गमन, प्राप्ति रूप व्याकरण सम्मत हैं। इसलिए जिनसे परिणाम का ज्ञान हो या जो निरन्तर परिणाम को प्राप्त हों, उन्हें द्रव्य कहते हैं। यद्यपि परिणामवाद सांख्यों का उत्कृष्ट सिद्धान्त है और उन्होंने कभी कहीं भी द्रव्य का निरूपण नहीं किया है, किन्तु चरक सांख्य शास्त्री होने के साथ द्रव्यवादी आचार्य है। अतः चरकानुसार प्रथम व्युत्पत्ति का निर्देश है। आचार्य चरक "**परिणामलक्षणो विपाकः**" कहकर विपाक क्रिया को परिणाम मानते हैं। विपाक एक कर्म है। "**क्रियागुणवत् समवायिकारणम्**" को द्रव्य कहते हैं। इस प्रकार यह निरुक्ति, लक्षण परिचायिका है। इसी के अनुसार "**परिणाममापद्यमानानां धातूनाम्**" तथा **आहारपरिणामकरास्त्विमे भावा भवन्ति**" आदि अवतरणिकाओं से आचार्य ने परिणाम को द्रव्यों में अवस्थित माना है। इसी प्रकार द्वितीय निरुक्ति न्यायशास्त्र के अनुसार 1. जिसमें संयोग विभाग आदि गुणों का ज्ञान हो, 2. जिसमें संयोग विभाग आदि गुण प्राप्त होते हों, उसे द्रव्य मानकर की है। इस निरुक्ति से "**अणुत्वमथ चैकत्वं द्वौ गुणौ मनसः स्मृतौ**" आदि गुण सत्ता वाले मन आदि को द्रव्य माना जाता है। इस प्रकार-द्रव्य कर्म वत्व से और गुणवत्व से दोनों लक्षणों से सम्पन्न होता है।

"**द्रवति गच्छति—संयोग-वियोगमिति द्रव्यम्।**" नैय्यायिकों के इस विचार में पृथिव्यादि चार महाभूत महद् परिमाण में होते हुए परस्पर संयोग

भी स्थिति में रहते हैं और जब ये टूटते जाते हैं तो इस वियोग की स्थिति में परमाणु परिमाण में बने रहते हैं। इस प्रकार इन चारों महाभूतों का वियोगात्मक स्थिति में परमाणु परिमाण और संयोगात्मक स्थिति में महद् परिमाण होता है तथा नष्ट होता रहता है। अतः ये द्रव्य कहलाते हैं। आकाश काल दिगात्मा ये चारों सामान्यतः किसी के कारण नहीं होते फिर भी औपाधिक रूप से चार महाभूतों के संस्कार के कारण [illegible] रूपाकृति संख्याओं को प्राप्त करते रहते हैं। इसलिए इनको द्रव्य कहते हैं। जबकि मन निरन्तर सुख दुःखादि की उपलब्धियों में गति करने के कारण द्रव्य कहलाता है।

द्रव्य का लक्षण—

१. **"यत्राश्रिताः कर्मगुणाः कारणं समवायि यत् तद् द्रव्यम् ॥"**—च०सू० १।५१ जिसमें कर्म और गुण आश्रित रहते हों तथा जो कर्म एवं गुण का समवायि कारण हो, उसे द्रव्य कहते हैं। २. **"द्रव्य लक्षणन्तु क्रिया गुणवत् समवायि कारणम्।"** —सु०सू०।४०। जो क्रियावान्, गुणवान् और समवायि कारण हो, उसे द्रव्य कहते हैं। ३. **"रसादीनां पञ्चानां भूतानां यदाश्रय भूतं तद् द्रव्यम्।"**—भाव-प्रकाश! रस, गुण, विपाक, वीर्य और प्रभाव इस पांचों का जो आश्रयभूत है, उसे द्रव्य कहते हैं। भाव मिश्र ने द्रव्यों के लक्षण को दार्शनिकता से दूर हटाकर आयुर्वेदीय स्वरूप में ढाल कर पूर्ण व्यावहारिक बनाया है। उनके विचार में द्रव्य और तदधिकरणवर्तियों में समवाय सम्बन्ध से आधाराधेय भाव माना गया है। इसीलिये वे कहते हैं कि द्रव्य में रसादि पांचों पदार्थ रहते हैं, कितना वैचित्र्य है। जहाँ नैय्यायिकों के मत में पदार्थों के एक अंश का नाम द्रव्य है, वहाँ भाव मिश्र के विचारों में द्रव्य के भीतर रहने वाली छोटी-छोटी इकाईयों का नाम पदार्थ है।

४. **गुणकर्माश्रयः समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम्।"**–उपस्कार। जो गुण और कर्म का आश्रय एवं समवायि कारण हो, उसे द्रव्य कहते हैं।

५. **"क्रिया-गुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम्।"**--वैशेषिक। यह लक्षण सुश्रुत के अनुसार है। ६. **"द्रव्यमाश्रयलक्षणं पञ्चानाम्।"** रसादि पांचों के आश्रय भूत को द्रव्य कहते हैं। ७. **"गुणवत्वं द्रव्यत्व-जातिमत्वं वा**

द्रव्यसामान्यलक्षणम् ।" जो गुणवत्व अथवा द्रव्यत्व जाति से युक्त हो, उसे द्रव्य कहते हैं । ८. "समवायसम्बन्धेन गुणक्रियाश्रयत्वं द्रव्यत्वम् ।" जो समवाय सम्बन्ध से गुण और क्रिया का आश्रय हो, उसे द्रव्य कहते हैं ।

समवाय सम्बन्ध—

१. उपर्युक्त लक्षणों में समवाय संबंध का निर्देश अधिक प्राप्त होता है । अतः उसे यहां समझना आवश्यक है । (क) संसार के यावन्मात्र द्रव्यों का दो प्रकार का सम्बन्ध होता है—एक नित्य तथा दूसरा अनित्य । अनित्य सम्बंध को संयोग कहते हैं, जो क्षणिक या स्वल्पकालिक एवं अस्थायी होता है । यह द्रव्य की व्यापार प्रक्रिया में कभी भी किसी के साथ प्राप्त होता है और कभी भी समाप्त हो जाता है । इस प्रकार इस अनित्य, अस्थायी और अल्पकालिक सम्बन्ध को संयोग कहते हैं । यथा–घटोत्पत्ति में दण्ड–चक्र–सूत्रादियों का । इस प्रकार के सम्बन्ध को यहां नहीं माना गया है । (ख) यहाँ उस सम्बन्ध को ग्रहण किया है, जो नित्य और स्थायी रूप से द्रव्य में रहता है, उसको समवायी कारण कहते हैं । जैसा कि कहा गया है–"नित्य सम्बन्धः समवायः ।" (ग) यह नित्य सम्बन्ध किसका किसके साथ है और किस प्रकार से इसमें नित्यत्व की सिद्धि होती है, यह जानना आवश्यक है । द्रव्य का उसके गुण और कर्मों से नित्य सम्बन्ध है अर्थात् जहां जहां जो जो द्रव्य रहता है, वहां वहां उस उस द्रव्य के गुण और कर्म भी तत्तद् द्रव्यों में रहते हैं । इस प्रकार द्रव्य का द्रव्याश्रित गुण और कर्म का स्थायी सम्बन्ध होने से नित्य सम्बन्ध कहलाता है । यही समवाय सम्बन्ध है । (घ) जब द्रव्य उत्पन्न होता है, तब उस प्राथमिक अवस्था में भी द्रव्य अगुणवान् नहीं होकर सगुणवान् ही माना जाता है । सत्ता तथा स्वरूप के स्पष्ट रूपेण परिलक्षित होने वाले काल में भी यही स्थिति है । इस प्रकार उत्पत्ति से विनाश पर्यन्त वह कभी भी अगुण नहीं रहने से गुणादिकों के साथ उसका नित्य सम्बन्ध बना रहता है । (ङ) नैय्यायिक द्रव्य, गुण, कर्म इन तीनों को पृथक्-पृथक् पदार्थ मानने के लिए एक निर्णय लेते हैं कि, द्रव्य उत्पन्न होने के आद्यक्षण में निर्गुण और निष्क्रिय रहते हैं । अर्थात् द्रव्य की उत्पत्ति के द्वितीय क्षण में उनमें गुण कर्म का सन्निवश होता है । इस मान्यता का तात्पर्य संभवतः इसलिए है कि, यदि द्रव्ये गुण कर्म

तीनों एक ही रहें और वह सनातन, एकता-समवाय सम्बन्ध से रहें, तो उनको द्रव्य शब्द से गुण शब्द या कर्म शब्द में से किसी एक शब्द से ही व्यवहार हो सकता है। इसीलिए एक क्षण भर के लिए द्रव्यों को गुण कर्महीन मानना पड़ा और इसी मान्यता के कारण नैय्यायिकों ने द्रव्य का लक्षण करते समय "गुणवत्त्वं द्रव्य सामान्य लक्षणम्" करके भी उस आदि क्षण में आने वाले दोष का परिहार करने के लिये "द्रव्यत्व जातिमत्वं" यह लक्षण पुनः उनको करना पड़ा। किन्तु आयुर्वेद सत्ख्याति सांख्यों का अनुगमन करके यह मानता है कि आद्य क्षण में जो द्रव्य उत्पन्न हुआ है उसके साथ ही उसके मूल भूत कारण उसके गुण और कर्म भी उत्पन्न होंगे। द्रव्य गुणादियों के साहचर्य में कोई भी क्षण ऐसा नहीं आने वाला है, जिसमें द्रव्यों का गुण कर्मों के साथ वियोग रहता हो। द्रव्यों के साथ गुण कर्म के इस अविनाभाव सम्बन्ध को बतलाने के लिये ही आयुर्वेद ने निरूपित किया है—(क) "यत्राश्रिताः कर्म गुणाः कारणं समवायि यत् तद् द्रव्यम्"—चरक (ख) "द्रव्यलक्षणन्तु क्रिया गुणवत् समवायि कारणम्।"—सुश्रुत। (ग) नैय्यायिक इस प्रकरण में असत् ख्यातिवादी हैं; उनके विचारों में द्रव्य की उत्पत्ति के अनन्तर असद्भूत कारण से सद्भूत गुण कर्म की उत्पत्ति हो जाती है।

चरकोपस्कार के लेखक श्री योगीन्द्रनाथ जी इसके विरुद्ध लिखते हैं—
"यदा द्रव्यमुत्पद्यते तदानीमपि तन्नागुणम्, स्वाभाविक गुणानुवृत्तेः।"
(घ) एक से अधिक विभु द्रव्यों या द्रव्य तथा द्रव्याश्रित गुणादि के पारस्परिक सम्बन्ध विशेष का विघटन अथवा वियोग के नहीं होने को समवाय सम्बन्ध कहते हैं। यहां पर भी द्रव्य और गुणादि में इसी प्रकार की नित्यता और अविच्छिन्नता अवस्थित है। उपर्युक्त लक्षण लक्षित सम्बन्ध को समवाय सम्बन्ध माना है।

आश्रयाश्रयीभाव—

२ आश्रय और आश्रयी वाक्य भी उपर्युक्त लक्षणों में निर्दिष्ट किये गये हैं। अतः उनका तात्पर्यार्थ भी ज्ञेय है। आश्रयाश्रयी भाव तथा आधाराधेय भाव भी स्थायी तथा अस्थायी रूप से दो प्रकार का होता है। यहाँ पर गुणादिक द्रव्यों में स्थायी (नित्य) रूप से आश्रित रहते हैं। द्रव्य जब तक

रहता है, तब तक इनको आश्रय दिये रहता है। ऐसा कोई क्षण उपस्थित नहीं होता जब गुणादिक द्रव्य के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु के आश्रित रहते हों और यह भी नहीं होता कि, द्रव्य भी गुणादि के बिना रहकर किसी अन्य को आश्रय दे सकता हो। इस प्रकार इनका परस्पर में अविनाभाव से आधाराधेय भाव सम्बन्ध है।

(३) द्रव्यत्व जाति वाले को द्रव्य कहते हैं। जिस प्रकार गोत्व जाति के निर्देश करनें पर संसार की सभी गायों का समावेश हो जाता है। उसी प्रकार यहाँ पर भी **"द्रव्यत्व जाति"** इस वाक्य के कहनें से जिसका ग्रहण होता हो, उसे द्रव्य कहते हैं। इस प्रकार यहाँ हर द्रव्य के लक्षण के लिये क्रियावान, गुणवान कार्य द्रव्य के प्रति समवायिकारण का होना, रसादि पांचों शक्तियों का आश्रय भूत और द्रव्यत्व जाति मान इन विशेषणों का प्रयोग किया है। अतः द्रव्य का यह लक्षण अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव इन तीन प्रकार के दोषों से रहित, निर्दुष्ट और आयुर्वेद सम्मत लक्षण है।

द्रव्य संख्या—

"खादिन्यात्मा मनः कालो दिशश्च द्रव्य संग्रहः"—चरक सू०।१।
आकाश-वायु-तेज-जल-पृथ्वी-आत्मा-मन-काल और दिशा ये नौ द्रव्य होते हैं।
"तत्र द्रव्याणि पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्ममनांसि नवैव"।—तर्क संग्रह। पृथिवी-जल-तेज-वायु-आकाश-काल-दिशा-आत्मा और मन ये नौ द्रव्य होते हैं। इस प्रकार न्याय वैशेषिक और आयुर्वेद उक्त नौ द्रव्यों को मानते हैं। इनको कारण द्रव्य कहते हैं। इन्हीं नौ कारण द्रव्यों से संसार के समस्त कार्य द्रव्यों की उत्पत्ति मानी जाती है। कारण द्रव्यों में न्याय-वैशेषिक आयुर्वेद की दृष्टि से इनके अतिरिक्त कोई कारण द्रव्य नहीं होता है।

यहाँ पर न्याय शास्त्र की अपेक्षा चरकोक्त द्रव्य विन्यास क्रम अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। न्याय दर्शन में चरकोक्त क्रम नहीं रखने का कारण अणुओं से सृष्टि का क्रम उत्पादन होना है। उनके यहां महाभूतों के परमाणु होते हैं और उन्हीं परमाणुओं से इनका यह स्थूल रूप बना है। इनमें यह क्रम नहीं कि, पूर्व कौन और पश्चात् कौन ?

द्रव्य के भेद—

(१) सर्वप्रथम उत्पत्ति मूलक दो भेद होते है। एक वह भेद, जिसमें उत्पत्ति रहित, नित्य तथा कारण द्रव्य आते हैं। दूसरे वे द्रव्य होते है, जिनकी उत्पत्ति होती हैं और जो कार्य द्रव्य कहलाते हैं। यथा—गुडूची, गोधूम, घट व पट आदि। कारण द्रव्यों की संख्या ६ तथा कार्य द्रव्यों की संख्या अपरिसंख्येय होती है, जिनका हम् निरन्तर प्रयोग करते हैं।

(२) प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष भेद से पुनः दो भेद होते हैं—जो द्रव्य परमाणु स्वरूपात्मक हैं तथा इन्द्रियों से अग्राह्य हैं, उन्हें अप्रत्यक्ष तथा जिनका इन्द्रिय द्वारा साक्षात्कार हो जाता है और जो स्थूल हैं, वे द्रव्य प्रत्यक्ष कहलाते हैं। इनमें से भिन्न-भिन्न इन्द्रियों द्वारा तत्तद् द्रव्यों का ग्रहण होता है। प्रत्येक इन्द्रिय द्वारा सभी द्रव्यों का प्रत्यक्ष नहीं होता है। उनका यह ग्रहण प्रकार अपने-अपने विषय के अनुसार होता है। एक ही द्रव्य का कई इन्द्रियों के द्वारा भी ग्रहण किया जाता है। इस वर्ग में उन द्रव्यों को लिया जाता है, जो पाञ्चभौतिक गुडूची गोधूमादि द्रव्य हैं, क्योंकि, इनमें तत्तद् भूत तत्तद् इन्द्रिय ग्राह्यत्व धर्म रहता है।

जैसा कि लिखा गया है—**"अथ प्रत्यक्षाप्रत्यक्षद्रव्याणि—परमाणु द्व्यणुके अप्रत्यक्षे। महदुद्भूतरूपत्त्वं यत्र तानिपृथ्वीजलतेजांसि प्रत्यक्षाणि आत्मा च मानसप्रत्यक्षः। वाय्वाकाशकालदिगात्ममनांसित्वप्रत्यक्षाणि।"** आत्मा को मानस प्रत्यक्ष कहा है, वहां इसे योगज प्रत्यक्ष भी मानना चाहिये। परमाणु व द्व्यणुकादि को अप्रत्यक्ष तथा महान् रूप वाले पृथ्वी, जल और तेज को प्रत्यक्ष माना है। वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन को अप्रत्यक्ष माना है। परन्तु आयुर्वेद के सिद्धान्तानुसार वायु को प्रत्यक्ष मानना चाहिए। यद्यपि वायु सूक्ष्म तथा रूप रहित है। अतः अग्राह्य कोटि में आनी चाहिए। ऐसा भ्रम होता है; परन्तु यह सत्य नहीं है। क्योंकि **"इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्"** यह प्रत्यक्ष का लक्षण करके आये हैं। इसके अनुसार वायु का स्पर्श विषय है जो कि त्वगिन्द्रिय का प्रत्यक्ष कहलाता है। यही नहीं, प्रत्येक विषय का प्रत्यक्ष भी स्पर्शनेन्द्रिय के माध्यम से होता है, जिसकी व्याप्ति सभी इन्द्रियाधिष्ठानों में है। इसका विस्तृत विवेचन इन्द्रियों

के प्रकरण में आगे किया जावेगा। इसी प्रकार आकाश भी शब्द से प्रत्यक्ष होता है। (३) सर्वगतत्व-असर्वगतत्व, अणु-महत्, जन्य-जनकत्व, एकत्व-अनेकत्व, बाह्यकरणग्राह्यत्व, अन्तःकरणग्राह्यत्व, गतिमत्व, अगतिमत्व आदि अनेक भेदोपभेदों की परिकल्पनाओं के द्वारा इनको अशेष-विशेष रूप से जानना अति आवश्यक है।

(४) व्यावहारिक व शास्त्रप्रचलित दो भेद तथा इनके उपभेद नीचे दिये जाते हैं—१. "चेतन २. अचेतन।" "सेन्द्रियं चेतनं द्रव्यं निरिन्द्रियमचेतनम्"- चरक। इन्द्रियों से युक्त द्रव्य को चेतन तथा इन्द्रिय रहित द्रव्य को अचेतन कहते हैं। यद्यपि चेतन धर्म आत्मा का है, परन्तु चरकानुसार उसकी सर्व-व्यापकता होने से सभी द्रव्य चेतन कहलायेंगे। अतः इस समस्या के समाधान हेतु आत्मा का नाम निर्देश नहीं करके इन्द्रिय का किया है। आत्मा जो कि, विभुत्वेन चराचर, चेतनाचेतन, जड़ाजड़ सभी वस्तुओं में रहते हुए भी जहां इन्द्रियों का सान्निध्य होगा वहीं पर विषय का ग्रहण तथा चेतना का प्राकट्य हो सकेगा। अतः यहां पर भी यही ज्ञेय है कि जहाँ जहाँ इन्द्रियाँ हैं, वहाँ-वहाँ चेतन तथा उनके अभाव में अचेतन। इस प्रकार मनुष्य पशु पक्षी गणों के अतिरिक्त वनौषधियो में भी चेतन धर्म माना गया है। यद्यपि मनुष्यादिकों की तरह इनमें चेतन धर्म की अभिव्यक्ति नहीं होती, फिर भी वे सभी जीवन क्रियायें जो मनुष्यों में होती हैं, वृक्षादि स्थावरों में भी क्रियानुमेय होती हैं। जैसे—सूर्यभक्ता में चक्षु, लवली में श्रवण, आम्र में रसन, लजवन्ती में स्पर्शन, बीजपूरक में घ्राण। इसी प्रकार ऐन्द्रिय संविज्ञान के अतिरिक्त, प्राणन, अपानन, मनःसत्ता, मलों का प्रेरण, रस का धारण, निद्रा लेना, व मृत्यु आदि सभी जीवन क्रियायें निरन्तर होती रहती हैं। अन्तर केवल इतनाही है कि चरप्राणियों में रक्त लालवर्ण का और स्थिर प्राणीवर्ग में जलाभ, क्षीराभ, या पीताभ (रक्त) होता है—अर्थात् हमारा रक्तजिसको विष्णुपदामृत के रूप में ग्रहण कर जीवित रहता है वह इनके लिए विष और हम जिसको विष के रूप में ग्रहण करते हैं वह उनके लिए विष्णुपदामृत--प्राणवायु होती है। शेष सभी क्रियायें हम में और उनमें समान हैं, उनमें कर्मेन्द्रियां भी उनके शरीर के अनु

होती हैं जो उनकी शरीर क्रियाओं का सम्पादन करती हैं। इसके अतिरिक्त उनके शरीर में मन और उसमें भयादिक की सत्ता व तज्जन्य प्रतिक्रियायें भी उत्पन्न होती हैं—हमारी भांति आगन्तु बाधाप्रतिषेध के लिए उनके पास शस्त्र भी होते हैं, जिनका प्रयोग आपद् काल में वृक्षादि आत्मरक्षाहित में किया करते हैं।

चेतन के पुनः दो भेद होते हैं—१. बहिरन्तश्चेतन २. अन्तश्चेतन।

बहिरन्तश्चेतन—इस वर्ग के प्राणी पूर्ण विकसित चैतन्य धर्म वाले होते हैं। इनमें अन्तश्चेतन तथा बहिश्चेतन दोनों ही अवस्थायें प्राप्त होती हैं। इनके पुनः चार भेद किये जाते हैं—१. जरायुज २. अण्डज ३. स्वेदज ४. उद्भिज्ज। **जरायुज**—जो जरायु से जन्म लेते हैं यथा-मनुष्य आदि। **अन्डज**-जिनका जन्म अण्डे से होता है। यथा—सर्प, पक्षी आदि। **स्वेदज**-जो स्वेद (पसीना-मल-पृथ्वी की वाष्प) आदि से उत्पन्न हों, उन्हें स्वेदज कहते हैं, यथा कृमि, कीट, यूका आदि। **उद्भिज्ज**—जो जमीन को फाड़कर बाहर निकलते हों उन्हें उद्भिज्ज कहते है। यथा-इन्द्रगोप, मण्डूक आदि।

यहां पर यह शंका उपस्थित हो सकती है कि इन्द्रगोप (वीर बहूटी) मण्डूक आदि जो प्रत्यक्षतः अण्डे से उत्पन्न होते हैं अतः इनको अण्डज वर्ग से हटाकर उद्भिज्ज वर्ग में क्यों रखा? इसका समाधान इस प्रकार है—जन्म के हेतु के अतिरिक्त अन्य शारीरिक विशेषताओं के आधार से भी प्राणियों का वर्गीकरण किया जाता है। यहां पर मनुष्य, सरीसृप, कीट पिपीलिकादि किसी भी प्राणी में यह क्षमता नहीं है कि, वह पृथ्वी के गर्भ में बिना किसी अन्य साधन के रह सके, केवल इन्द्रगोप मण्डूक प्रभृति ही ऐसे प्राणी हैं जो पृथ्वी के अन्दर न केवल अपने जीवन को सुरक्षित रख सकते हैं, अपितु जीवन मूल की सभी आवश्यक श्वास प्रश्वासादि क्रियायें सम्पादित करनें में समर्थ भी होते हैं। इतना ही नहीं प्रकृति ने इन प्राणियों को पृथ्वी के भीतर श्वास प्रश्वास की क्रियाओं के सम्पादन हेतु अलग त्वचीय-श्वसन (Cutaneous Respiration) संस्थान प्रदान किया है जो अन्य प्राणिओं में उपलब्ध नहीं होता। इसीलिये आचार्यों ने ऐसे प्राणियों को अण्डज वर्ग से हटाकर उद्भिज्ज वर्ग में समाविष्ट करके इनके अध्ययन को सरल कर दिया है।

अन्तश्चेतन—इस वर्ग में चेतना की प्रवृत्ति बाहर की तरफ स्पष्ट रूप से परिलक्षित नहीं होती। परन्तु आभ्यन्तरिक रूप में चेतना व्याप्त रहती है। इस वर्ग में वनस्पतियां आती हैं। इनके भी चार भेद होते हैं—१. वनस्पति २. वानस्पत्य ३. वीरूद् ४. औषध। **वनस्पति**-जिनमें पुष्प कणिकाओं के द्वारा आवृत होने के कारण दिखाई नहीं देते, अपितु अदृष्ट रहते हों उन्हें वनस्पति कहते हैं। यथा बड़, गूलर आदि। २. **वानस्पत्य**—जिनमें पुष्प और फल दोनों प्रकट रूप से दीखते हों उनको वानस्पत्य कहते हैं। यथा—आम्र—जामुन आदि। ३ **वीरूद्**—जिनकी लतायें फैलती हैं या जो गुल्म के रूप में हों उनको वीरूद् कहते हैं। यथा—गिलोय—कर्बीर आदि। ४. **औषध**—फल पकने पर जिनका नाश हो जावे उनको औषध कहते हैं यथा—गोधूम आदि।

पृथ्वी निरूपण—

सांख्य दर्शन में २५ तत्त्व माने गये हैं, उनमें २५ वां तत्त्व चेतन पुरुष है तथा २४ जड़ तत्त्व परिगणित किये गये हैं, जिनमें अन्तिम तत्त्व पृथ्वी है। प्रकृति से परिणाम या विकास जिस किसी भी क्रम से संसार का सृजन हुआ हो सबके अन्तिम की अवस्था पृथ्वी है। या यों कहें कि, पृथ्वी के अनन्तर किसी भी तत्त्व की उत्पत्ति का प्रकार या विस्तार अथवा प्रजनन क्रम अवरूद्ध हो जाता है।

जहाँ स्थूलतम पृथ्वी से विनाश क्रम आरम्भ होता है वहाँ स्थूल, सूक्ष्म व सूक्ष्मतम तक जाते जाते यह क्रम भी समाप्त हो जाता है और अव्यक्तावस्था अवशिष्ट रह जाती है। यह स्वरूप इतना सूक्ष्म स्वरूप है जितना न्याय-दर्शनोक्त परमाणु भी नहीं, अत एव इसे अव्यक्त कहा है। ठीक इसी तरह से सृष्टिक्रम में भी उसी अव्यक्तावस्था, जो कि परम सूक्ष्म है, से सूक्ष्म-स्थूल व स्थूलतर तथा स्थूलतम तक क्रम चलता रहता है और अन्तिम में पृथ्वी का निर्माण हो जाता है। अतः, जिस प्रकार परम सूक्ष्म अव्यक्त के अनन्तर आगे कोई रूप नहीं हो सकता, उसी प्रकार से सृष्टि के क्रम में भी पृथ्वी से कोई स्थूल तम वस्तु उत्पन्न नहीं हो सकती। अतः, यहाँ पर आकर प्रकृति अपना विराम ग्रहण कर लेती है। यह उसका अन्तिम व सर्वोत्कृष्ट कार्य हो जाता है।

अन्तश्चेतन—इस वर्ग में चेतना की प्रवृत्ति बाहर की तरफ स्पष्ट रूप से परिलक्षित नहीं होती। परन्तु आभ्यन्तरिक रूप में चेतना व्याप्त रहती है। इस वर्ग में वनस्पतियां आती हैं। इनके भी चार भेद होते हैं—१. वनस्पति २. वानस्पत्य ३. वीरूद् ४. औषध। **वनस्पति**–जिनमें पुष्प कणिकाओं के द्वारा आवृत होने के कारण दिखाई नहीं देते, अपितु अदृष्ट रहते हों उन्हें वनस्पति कहते हैं। यथा बड़, गूलर आदि। २. **वानस्पत्य**—जिनमें पुष्प और फल दोनों प्रकट रूप से दीखते हों उनको वानस्पत्य कहते हैं। यथा–आम्र–जामुन आदि। ३ **वीरूद्**—जिनकी लतायें फैलती हैं या जो गुल्म के रूप में हों उनको वीरूद् कहते हैं। यथा–गिलोय–कर्बीर आदि। ४. **औषध**–फल पकने पर जिनका नाश हो जावे उनको औषध कहते हैं यथा–गोधूम आदि।

पृथ्वी निरूपण—

सांख्य दर्शन में २५ तत्त्व माने गये हैं, उनमें २५ वां तत्त्व चेतन पुरुष है तथा २४ जड़ तत्त्व परिगणित किये गये हैं, जिनमें अन्तिम तत्त्व पृथ्वी है। प्रकृति से परिणाम या विकास जिस किसी भी क्रम से संसार का सृजन हुआ हो सबके अन्तिम की अवस्था पृथ्वी है। या यों कहें कि, पृथ्वी के अनन्तर किसी भी तत्त्व की उत्पत्ति का प्रकार या विस्तार अथवा प्रजनन क्रम अवरूद्ध हो जाता है।

जहाँ स्थूलतम पृथ्वी से विनाश क्रम आरम्भ होता है वहाँ स्थूल, सूक्ष्म व सूक्ष्मतम तक जाते जाते यह क्रम भी समाप्त हो जाता है और अव्यक्तावस्था अवशिष्ट रह जाती है। यह स्वरूप इतना सूक्ष्म स्वरूप है जितना न्याय-दर्शनोक्त परमाणु भी नहीं, अत एव इसे अव्यक्त कहा है। ठीक इसी तरह से सृष्टिक्रम में भी उसी अव्यक्तावस्था, जो कि परम सूक्ष्म है, से सूक्ष्म-स्थूल व स्थूलतर तथा स्थूलतम तक क्रम चलता रहता है और अन्तिम में पृथ्वी का निर्माण हो जाता है। अतः, जिस प्रकार परम सूक्ष्म अव्यक्त के अनन्तर आगे कोई रूप नहीं हो सकता, उसी प्रकार से सृष्टि के क्रम में भी पृथ्वी से कोई स्थूल तम वस्तु उत्पन्न नहीं हो सकती। अतः, यहाँ पर आकर प्रकृति अपना विराम ग्रहण कर लेती है। यह उसका अन्तिम व सर्वोत्कृष्ट कार्य हो जाता है।

इस प्रकार सृष्टि के क्रम में अव्यक्त से पृथ्वीपर्यन्त स्थूलतम तथा विनाश क्रम में पृथ्वी से अव्यक्त पर्यन्त सूक्ष्म कोई भी, रूप, दशा, गति या अवस्था नहीं हो सकती, अन्यथा अनवस्था दोष आकर व्यवस्था भंग हो जायेगी। अतः प्रकृति भी अपने नियम में आबद्ध है या यों कहें कि इन दोनों प्रक्रियाओं में इसकी कार्यक्षमता का यहाँ पर्यवसान हो जाता है अथवा यह भी सत्य है कि सूक्ष्मतम तथा स्थूलतम अवस्थाओं से आगे कोई अवस्था बन ही नहीं सकती। इसलिये सृष्टि और संहार का यह क्रम आगे और पीछे कहीं भी, कैसे भी, कुछ भी नहीं हो सकता। इस प्रकार के क्रम को सांख्य और आयुर्वेद के सभी दार्शनिकों के सम्मुख रखकर एक बहुत बड़ी समस्या का युक्तिपूर्वक समाधान किया है।

उपर्युक्त अभिप्राय को आचार्य सुश्रुत ने "तमो बहुला पृथ्वी" इस एक ही सूत्र से प्रदर्शित कर दिया है। इसी से इसका स्थूलत्व, अगतिमत्व, गुरुत्व, आवरणत्व और आगे के परिणाम तथा विकास क्रम के अवरोध का ज्ञान हो जाता है। क्योंकि, तमोगुण ही उपर्युक्त कार्यों का हेतु माना गया है, रजस एवं सत्त्व नहीं। शरीर और संसार में उपर्युक्त गुणात्मक जो भी द्रव्य हैं, वे पृथ्वी तत्त्व प्रधान होते हैं। शरीर में इनकी कमी आने पर पृथ्वी तत्त्व प्रधान द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है और इसकी वृद्धि होने पर इसके विपरीत गुणात्मक द्रव्यों का। इन सब विषयों का ज्ञान हमें सुश्रुत के उपर्युक्त वाक्य से हो जाता है।

श्रुति-स्मृतियों और अन्य दर्शनों में सृष्टि की उत्पत्ति का क्रम इस प्रकार उपलब्ध होता है—(१) "अद्भ्यः पृथ्वी"—तैत्तिरीयोपनिषद्। (२) "अद्भ्यो गन्धगुणाभूमिः"—मनुः। (३) तद्यदपांशरः आसीत् तत् समहन्यत सा पृथ्वी अभवत्"—बृहदारण्यकोपनिषद्।

(४) "तत्र क्षितिर्गन्ध-हेतु-र्नानारूपवती मता।
षड्विधस्तु रसस्तत्र गन्धस्तु द्विविधो मतः॥
स्पर्शस्तस्यास्तु विज्ञेयो ह्यनुष्णाशीतपाकजः।
नित्यानित्या च सा द्वेधा नित्या स्यादणुलक्षणा॥

"अनित्या तु तदन्या स्यात् सैवावयवयोगिनी ।

सा च त्रिधा भवेद्देहमिन्द्रियं विषयस्तथा ।।"–सिद्धान्त मुक्तावली

जल से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई। जलका फेन था, वह कठिनता में परिवर्तित हुआ और परिणामतः पृथ्वी का निर्माण हुआ। जल से गन्ध गुण वाली पृथ्वी उत्पन्न हुई। सिद्धान्तमुक्तावली के अनुसार पृथ्वी गन्धवती, षड्रस-युक्त, अनुष्णाशीत, पाकजस्पर्श, अनेकरूपयुक्ता, नित्य और अनित्य भेद वाली होती है। कारण रूप नित्य एवं कार्य रूप अनित्य है। शरीर इन्द्रिय विषय भेद से पुनः तीन प्रकार की होती है।

पृथ्वी में पाँच विषय—

शेष चारों भूतों के अनन्तर उत्पन्न होने के कारण यह गन्धवती होती हुई भी इसमें चारों भूतों के शब्द-स्पर्श-रूप-रस (स्वयं का गन्धगुण) रहते हैं। यह आयुर्वेद का सिद्धान्त है। जबकि न्याय-वैशेषिक दर्शनानुसार पृथ्वी में शब्द गुण नहीं होता। यहां आयुर्वेदीय सिद्धान्त ही युक्ति और प्रमाण पुरःसर प्रतिष्ठापित किया गया है। जैसा कि लिखा है "तेषामेक-गुणः पूर्वो गुणवृद्धिः परे परे"। जब तीनों भूतों के गुणों को माना जाता है, तब एक भूत के गुण को ग्रहण नहीं करने में कोई युक्ति दिखाई नहीं देती है। विना आकाश महाभूत के किसी भी महाभूत का अवस्थान कैसे रह सकेगा। अतएव सर्वप्रथम आकाश की उत्पत्ति और तदनन्तर अन्य महाभूतों की उत्पत्ति का क्रम शास्त्रों में निर्दिष्ट किया गया है।

यदि यह कहा जाय कि, परमाणुओं से सृष्टि होती है; भूतों से नहीं तथा इनसे उत्पत्ति का क्रम आकाश से वायु तथा वायु से जल यह नहीं होता है, तब भी परमाणुओं के एक साथ होने की स्थिति में तीन महाभूतों के गुणों का ग्रहण तथा एक महाभूत के गुण का सन्निवेशन करना कहाँ तक उचित है? तथा पाञ्चभौतिक सृष्टि के बनने के अनन्तर सभी द्रव्य पाञ्चभौतिक बन जाते हैं, उस समय उनमें सभी महाभूतों के विषय भी प्राप्त होने लगते हैं। इस प्रकार पृथ्वी में पाँचो ही गुण होने चाहिए न कि चार।

शुक्ल, नील, पीत, हरित, रक्त, खाकी व चित्र-विचित्र इस प्रकार

इसमें सात रूप रहते हैं। मधुर, अम्ल, लवण, तिक्त, कटु और कषाय ये छः रस होते हैं। इसमें सुरभि और असुरभि अर्थात् सुगन्ध और दुर्गन्ध दो प्रकार की गन्ध रहती है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व और संस्कार ये चौदह गुण पृथ्वी में पाये जाते हैं। प्रशस्तपाद का कथन है कि, महाभूतों के विषय स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये विशेष गुण पृथ्वी में रहते हैं। संख्या आदि सात गुण चाक्षुष प्रत्यक्ष के विषय होने के कारण पृथ्वी में रहते हैं। पतन शब्द के उपदेश से गुरुत्व गुण की सिद्धि भी पृथ्वी में हो जाती है। "अद्भिः सामान्य वचनात्" इस वाक्य से द्रवत्व की तथा "उत्तर-कर्म वचनात् संस्कारः" से संस्कार गुण भी पृथ्वी में सिद्ध होता है। इस प्रकार प्रशस्त पाद ने पृथ्वी में चौदह गुणों का व्याख्यान किया है।

पृथ्वी के भेद—

नित्य और अनित्य इस प्रकार पृथ्वी के दो भेद होते हैं। इसमें परमाणुरूप नित्य तथा कार्यलक्षणा या स्थूल-रूपा अनित्य होती है। अनित्य के पुनः तीन प्रभेद होते हैं—१. शरीर संज्ञक २. इन्द्रिय संज्ञक ३. विषय संज्ञक। **शरीर संज्ञक**—पार्थिव शरीर—इस संसार में दृश्यमान मनुष्य, पक्षि, पशु आदि प्राणियों के शरीर का निर्माण प्रधान रूप से पृथ्वी तत्व से होता है। यद्यपि शरीर निर्माण क्रम में पांचो ही महाभूत अपने अपने अंश का योगदान देते हैं। जैसाकि, आगे इसी अध्याय में तत्तद् भूतों के वर्णन के प्रसंग में देखेंगे परन्तु, जैसाकि, सुश्रुत के "**तमो बहुला पृथ्वी**" इस लक्षण से ज्ञात होता है कि यही एक मात्र ऐसा द्रव्य है जो प्रत्येक प्राणी और वस्तु के स्थूल आकार का मूल कारण है, इसके विना किसी का भी ठोस व स्थूल शरीर नहीं बन सकता। इसीलिये आयुर्वेद में कृश तथा दुर्बल शरीरियों को पृथ्वी बहुल द्रव्यों के सेवन का निर्देश किया है। पृथ्वी से शरीर के बनने से इसे व्यवहार में पार्थिव शरीर कहते हैं और यह अनित्य तथा नश्वर होता है। पञ्च भूतात्मक परन्तु पृथ्वी प्रधान यह शरीर ही भोगायतन कहलाता है क्योंकि, इस शरीर के माध्यम से ही आत्मा अपने सभी कर्मों का उपभोग करता है। आत्मा, मन, एवं इन्द्रिय का इसमें निवास होने से यह शरीर आश्रय कहलाता है।

शरीर संज्ञक के पुनः दो भेद होते हैं—योनिज और अयोनिज। योनिज वे होते हैं, जिनकी उत्पत्ति के लिए शुक्र शोणित की अपेक्षा होती है। यथा—जरायुज और अण्डज। जरायुज में मनुष्य, पशु आदि आते है तथा अण्डज में पक्षी, सरीसृप प्रभृति ग्राह्य हैं। अयोनिज शरीर से शुक्रशोणित संयोग रहित सृष्टि का ग्रहण होता है। जैसे-देवता तथा ऋषियों का शरीर जो कि धर्म विशिष्ट अणुओं के संयोग से उत्पन्न होता है। जबकि, क्षुद्र प्राणियों के शरीर अधर्म विशिष्ट अणुओं के संयोग से उत्पन्न होते है।

इन्द्रिय संज्ञक–प्रत्येक महाभूत की प्रधानता से एक एक इन्द्रिय की उत्पत्ति होती है उसमें पृथ्वी प्रधान घ्राणेन्द्रिय मानी गई है। आयुर्वेद इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है यथा—**"भौतिकानि चेन्द्रियाणि"**। सुश्रुत। इसी घ्राणेन्द्रियं द्वारा गंध का ग्रहण होता है, जो कि, नासिका के अग्र भाग में शक्ति रूप से स्थित है। नासिका ही घ्राणेन्द्रिय का अधिष्ठान है। इसे ही पार्थिव इन्द्रिय या इन्द्रिय संज्ञक कहते हैं।

विषय संज्ञक—जो परमाणुओं से उत्पन्न होकर दृश्य रूप को प्राप्त होते हैं तथा पार्थिव शरीर व पार्थिव इन्द्रिय से जो भिन्न हैं, परन्तु पार्थिव हैं,, उसे पार्थिव विषय या विषय संज्ञक कहते हैं। यह भी मान्यता है कि विषय से जो मिट्टी-पत्थर-स्थावरादिकों का ग्रहण करते हैं इसके स्थान पर गन्ध विषय का ग्रहण किया जाना चाहिए। क्योंकि प्रथम भेद में स्थूल शरीर का द्वितीय में इन्द्रिय का ग्रहण हो गया। अब केवल गन्ध विषय ही सावशेष रहा। इसका **"विषय"** संज्ञा से ग्रहण किया जाना चाहिए। विषय से गन्ध का ग्रहण होने पर मिट्टी-पत्थर आदि का भी ग्रहण हो सकेगा, क्योंकि पार्थिव में प्रधान रूप से और अनिवार्यतया गन्धत्व की प्राप्ति होती ही है। इसके अतिरिक्त जिस वस्तु की जो भी जैसी आकृति व रचना विशेष होती है, वही उस वस्तु का शरीर कहलाता है। अतः पार्थिव शरीर – शरीर संज्ञक में मिट्टी पत्थर आदि का समावेश हो जाता है।

विषय संज्ञक पृथ्वी के तीन भेद होते है—(१) मृत् (२) पाषाण तथा (३) स्थावर। इनमें पृथ्वी प्रदेश, इष्टिका आदि मृत के प्रकार हैं। पाषाण से

उपलमणि आदि का ग्रहण होता है। स्थावर—"तिष्ठन्ति इति स्थावराः।" के अनुसार वृक्ष, लता, तृण प्रभृति ग्राह्य हैं।

इस प्रकार अतिव्याप्ति, अव्याप्ति व असम्भव दोष रहित पृथ्वी का निर्दुष्ट लक्षण यह है कि "रूप-रस-गन्ध-स्पर्शवत्वं पृथ्वीत्वम्"। जिसमें रूप-रस-गन्ध और स्पर्श हो, उसे पृथ्वी कहते हैं। अथवा "पृथ्वीत्व-जातिमत्वं पृथ्वीत्वम्।" पृथ्वीत्व जातिमान् को पृथ्वी कहते हैं। "तत्र गन्धवती पृथिवी" गन्ध वाली पृथ्वी होती है। यद्यपि गन्ध की प्राप्ति अन्य महाभूतों में भी प्राप्तव्य है, परन्तु वहाँ पर इस गन्ध का संयोग-संबंध अनित्य रूप से रहता है, जबकि पृथ्वी में समवाय सम्बन्ध नित्यत्वेन रहता है और वह गन्ध भी जिन २ द्रव्यों में पाया जाता है, मौलिक रूप से वह पार्थिव ही है।

जल निरूपण—

१. "सत्त्वतमो बहुला आपः"—सुश्रुत। २. "अग्नेराप:"—तैत्तिरीयोपनिषद्। ३. "ज्योतिषश्च विकुर्वाणादापो रस गुणाः स्मृताः"—मनुः ४. "रूप-रस-स्पर्शवत्यापो द्रवस्निग्धाः"—वैशेषिक दर्शन।

५. "वर्णः शुक्लो रस स्पर्शौ जले मधुरशीतलौ।
स्नेहस्तत्र द्रवत्वं तु सांसिद्धिकमुदाहृतम्॥
नित्यतादि पूर्ववत्तु किन्तु देहमयोनिजम्।
इन्द्रियं रसनं सिन्धु हिमादिर्विषयो मतः॥"—मुक्तावली।

६. "रूप-रस-स्पर्श-द्रवत्व-स्नेह-संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्वापरत्व-गुरुत्व संस्कारवत्यः। पूर्ववदेषां सिद्धिः। "शुक्ल-मधुर-शीता एव रूप-रस-स्पर्शाः।" "स्नेहोऽम्भस्येवसांसिद्धिकं च द्रवत्वम्।" प्रशस्तपाद। सत्व तथा तमो गुण प्रधान जल होता है। अग्नि से या अग्नि के अनन्तर जल की उत्पत्ति होती है। अग्नि से रस गुण वाले जल की उत्पत्ति होती है। जल-द्रव, स्नेह, रूप, रस व स्पर्श वाला होता है। जल का वर्ण शुक्ल है उसमें मधुर रस और शीत स्पर्श ये गुण हैं। स्नेह और द्रवत्व उसके सांसिद्धिक गुण हैं। नित्य और अनित्य भेद पृथ्वी के समान ही हैं, किन्तु, जलीय शरीर अयोनिज ही होता है, जो वरुणलोक में है। इन्द्रिय संज्ञक रसना है और सिन्धु आदि

विषय संज्ञक हैं (मुक्तावली)। रूप, रस, स्पर्श, द्रवत्व, स्नेह, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व और संस्कार ये चौदह गुण जल के हैं। पृथ्वी के समान ही इन गुणों की सिद्धि है। इनका रूप-शुक्ल, रस-मधुर, और स्पर्श-शीत है। स्नेह और द्रवत्व जल के सांसिद्धिक गुण हैं (प्रशस्तपाद)।

सुश्रुत ने जल को सत्त्व व तमोबहुल माना है। क्योंकि सत्त्व का स्वरूप शुक्ल एवं प्रकाशमान बतलाया गया है और यही "वर्णः शुक्लः" मुक्तावली कार ने लिखा है। आकाश-वायु और तेज के अनन्तर गुरुत्व में जल का ही नम्बर आता है। यह गुरुता ही इसमें तमत्व का कारण है। अतः जल सत्त्व एवं तमोगुण प्रधान है। इतना ही नहीं पृथ्वी के अनन्तर पाँचों महाभूतों में गुरुत्व की दृष्टि से जल ही ग्राह्य और ज्ञेय है। इसलिये पृथ्वी को केवल तम प्रधान और जल को सत्त्व व तम प्रधान माना गया है।

जल की उत्पत्ति श्रुति व स्मृतियों के अनुसार अग्नि से मानी गई है। यद्यपि पाँचों महाभूतों के प्रत्येक गुण और उसके कार्य को प्रकृतिसमसमवायात्मक (कारणानुरूप कार्य) ही नहीं समझना चाहिए और न ही समझा जा सकता है। जैसे कि, द्रव्यगत-शक्तियाँ, त्रिगुण और त्रिदोष गत भावों का परिज्ञान प्रकृतिसमसमवाय से और विकृतिविषमसमवाय से होता है। पुनरपि दर्शन शास्त्र का यह सिद्धान्त है कि, प्रत्येक कार्य की कारण के अन्तस्तल में पहुँच कर तर्क वितर्क उहापोह युक्ति आदि के द्वारा उसकी मीमांसा की जानी चाहिए। व्यवहार में हम ऐसा देखते हैं कि, प्रकृति में "स्कन्दित" (जमा हुआ) द्रव भाग किसी भी प्रकार की उष्णता प्राप्त करने पर वह द्रवीभाव को प्राप्त होता है अर्थात् पिघल जाता है। इतना ही नहीं तापक्रम की अधिकता से वह वाष्पीकृत होकर वायु में उड़ने भी लगता है। इसी प्रकार तापक्रम की कमी से बहुत सी गैसें द्रवी भाव को प्राप्त हो जाती हैं।

न्याय दर्शन के अनुसार जल के परमाणुओं से जल की उत्पत्ति होती है। ये परमाणु नित्य और इनसे उत्पन्न हुआ जल अनित्य माना जाता है। जल का लक्षण "शीतस्पर्शवत्यापः" यह किया गया है। अर्थात् जो स्पर्श में शीत हो, उसे जल कहते हैं। यद्यपि जल ऊष्ण भी किया जा सकता है, परन्तु

वह "प्रतप्तमपि पानीयं पुनर्भवति शीतलम्" के अनुसार ठण्डा ही हो जाता है। इसलिए इसका लक्षण "शीतस्पर्शवत्याप:" किया है। इसके अतिरिक्त संसार के प्रत्येक द्रव्य में द्रवत्व रसवत्व एवं स्निग्धत्वादि जो गुण प्राप्त होते हैं वे समस्त जल मूलक ही माने जाते हैं। यह जल संसार के जड़ और चेतन समस्त वस्तुओं में व्याप्त रहता है, जैसा कि निम्नांकित वैदिक सूत्र में वर्णित है—"यूयं हि भिषजो मातृतमा विश्वस्य स्थाणुर्जगता जनित्री:।"

जल के भेद—नित्यानित्य भेद से जल के दो प्रकार है—कारणरूप या परमाणुरूप-नित्य तथा कार्यरूप या स्थूलरूप-अनित्य। अनित्य के पुनः तीन भेद होते है—शरीरसंज्ञक, इन्द्रियसंज्ञक एवं विषयसंज्ञक। **१. जलीय शरीर**—यह केवल अयोनिज होता है तथा वरुण लोक में निवास करता है। लेकिन उसे भी सुख दुःख के उपभोग का साधन मानने से भोगायतन कहते हैं। **२. जलीय इन्द्रिय**—जिस इन्द्रिय से मधुरादि विषयों का ज्ञान होता है और जो जिह्वा के अग्रभाग में अवस्थित है उसका नाम रसनेन्द्रिय है और वही जलीय इन्द्रिय है। रसनेन्द्रिय का अधिष्ठान जिह्वा है। आयुर्वेद के मत से रसनेन्द्रिय की उत्पत्ति जलमहाभूत से होती है। इसलिए वह जलात्मक रस को ग्रहण करती है, अन्य विषयों को नहीं। **३. जलीय विषय**—समुद्र, तालाब, नदी, वर्फ, ओले, ये सब जल के विषय माने जाते हैं।

जल की अवस्थायें–जल की चार अवस्थायें प्राचीन आचार्यों द्वारा निर्धारित की गई हैं, जो इस प्रकार हैं–(१) अम्भ (२) मरीची (३) मर (४) और आप। **१. अम्भ**—सूर्य मण्डल के ऊपर के आकाश भाग में अवस्थित अप् को अम्भ कहते हैं यह अम्भ जल की प्राथमिक तथा सूक्ष्मतम अवस्था विशेष मानी जाती है। प्राचीन आचार्यों की मान्यता है कि सूर्य के ऊपर परमेष्ठी मण्डल में परमात्मा का निवास स्थान है और वहां जो सोमरूप अम्भ है, वही अमृत कहलाता है। आधुनिक वैज्ञानिकों के अनुसार यह हाइड्रोजन हो सकता है क्योंकि यह सोम, सूर्य से सम्पर्कित होकर ज्वलनशील माना गया है और प्रकाशजनक भी। हाइड्रोजन की भी यही स्थिति बतलाई गई है।

२. मरीची–सूर्य मण्डल और धरातल के मध्य स्थित अप् को मरीची कहते हैं। यह मरीची माली (सूर्य) के चारों तरफ माला की तरह रहता है।

इसीलिये भगवान् भास्कर का नाम मरीची माली है। यह अग्नि को धारण करता है, इसलिए यह आग्नेय सोम तत्त्व है। इसी से प्रकाश फैलता है। ग्रह तारक आदि का सृजन यहीं से हुआ है। कई व्यक्तियों की मान्यता है कि इसके एक अंशविशेष को आक्सीजन कहते हैं। ३. मर–पृथ्वी पर स्थित जल की संज्ञा मर है। जैसा कि, ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि इसकी उत्पत्ति सोम और पवन के संयोग से होती है। यह सोम (हाइड्रोजन) और पवन (आक्सीजन) दोनों मिलकर उत्पन्न हुआ-मर, वनस्पति, औषधि और उष्णता का पोषक है। इसी का समर्थन आचार्य वाग्भट करते हैं कि— "समस्त संसार अग्नि सोमात्मक है।" आधुनिक विज्ञान के मतानुसार भी स्थूल जल की उत्पत्ति हाइड्रोजन (सोम) और आक्सीजन (पवन) के संयोग से होती है। ४. आप–भूमि के नीचे अवस्थित जल की संज्ञा आप है।

जल का निर्दुष्ट लक्षण––"समवायेन शीतस्पर्शवत्वं जलत्वं" अर्थात् जिसमें समवाय सम्बन्ध से शीत स्पर्श रहे, उसे जल कहते हैं। क्योंकि, स्पर्श के साथ शीत शब्द का निवेश करने से पृथ्वी आदि में अतिव्याप्ति आदि दोषों का परिहार हो जाता है।

तेजोनिरूपण—

१. "सत्त्व-रजो बहुलोऽग्निः।"–सुश्रुत। २. "वायोरग्निः।"–तैत्तरीयोपनिषद्। ३. "तेजो रूप स्पर्शवत्"–वैशेषिक दर्शन।

४. "उष्ण-स्पर्शस्तेजसस्तु स्याद्रूपं शुक्लभास्वरम्।
नैमित्तिकं द्रवत्वन्तु नित्यतादि च पूर्ववत्॥
इन्द्रियं नयनं वह्निः स्वर्णादिविषयो मतः॥" —मुक्तावली।

५. "वायोरपिविकुर्वाणाद विरोचिष्णु-तमोनुदम्।
ज्योतिरुत्पद्यते भास्वराद्रूपगुणमुच्यते॥" —मनुः।

६. "रूप-स्पर्श-संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्वापरत्व-द्रवत्व संस्कारवत्। पूर्ववदेषां सिद्धिः। तत्र शुक्लं भास्वरं च रूपम्। उष्ण एव स्पर्शः।" –प्रशस्तपाद। सत्व और रजोगुण प्रधान अग्नि होती है। वायु से या वायु के अनन्तर अग्नि की उत्पत्ति हुई। रूप, स्पर्श वाला तेज होता है।

उष्णस्पर्श वाला तेज होता है। इसका रूप भास्वर शुक्ल है। द्रवता इसका नैमित्तिक गुण होता है। पृथिव्यादि की भांति ही इसके नित्यानित्य भेद होते हैं। तेज का इन्द्रिय संज्ञक रूप नयन तथा विषय संज्ञक स्वर्णादि माने जाते हैं। रूप, स्पर्श, संख्या, परिमाण; पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्वापरत्व, द्रवत्व और संस्कार ये ११ गुण तेज में रहते हैं। पृथिव्यादि की तरह ही इनकी सिद्धि होती है। इसका स्पर्श उष्ण है तथा स्वरूप भास्वर है।

श्रान्तस्य तप्तस्य तेजोरसो न्यवर्तत अग्निः। स त्रेधा-आत्मानं व्याकुरुत, आदित्यं द्वितीयं, वायु तृतीयम्। वह आत्मा अग्नि, आदित्य और वायु इन तीन भागों में विभक्त हो गई। संसार के सभी द्रव्यों में वह्नि रहती है और उसी के द्वारा उन सबका पाक होकर वे उन उन रूपों में प्राप्त होते हैं। क्योंकि, सभी द्रव्य पाञ्चभौतिक हैं। इसी आयुर्वेदिक सिद्धान्त का कठोपनिषद् के इस वाक्य से समर्थन प्राप्त होता है। **"अग्निर्यथैकोभुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।"** इसी प्रकार का विवेचन कि वह्नि पत्थरों व वनस्पतियों में होती है. अथर्ववेद में भी प्राप्त होता है।

तेज के भेद—पृथिव्यादि की भांति इसके भी शरीरसंज्ञक, इन्द्रियसंज्ञक और विषयसंज्ञक ये तीन भेद होते हैं। **शरीरसंज्ञक**—तैजस शरीर केवल अयोनिज होता है तथा आदित्य लोक में निवास करता है। तैजस शरीर वाले भगवान् भास्कर और सौर मण्डल के देदीप्यमान नक्षत्र माने गये हैं। इन शरीरों में तैजस महाभूत की प्रधानता होती है। **तैजसइन्द्रिय**–तेज का गुण रूप है जो उसमें समवाय सम्बन्ध से रहता है। इस रूप गुण को ग्रहण करने वाली तैजस इन्द्रिय कहलाती है। जिसके अधिष्ठान नेत्र हैं। आयुर्वेदीय मत से इसकी उत्पत्ति तेज महाभूत से होती है। अतः यह तेजो विषय रूप का ही ग्रहण करती है। **तैजसविषय**—इसके चार प्रकार माने गये हैं– (१) भौम (२) दिव्य (३) औदर्य (४) आकरज। भूमण्डल पर दृश्यमान् वह्नि जो भोजन आदि का पाक करती है, उसे **"भौम तेज"** कहते हैं। जिसको भौतिक अग्नि कहा जाता है, वह भी भौम तेज कहलाता है। आकाश की विद्युत आदि **"दिव्य तेज"** कहलाते हैं। औदर्य तेज-जाठराग्नि को औदर्य तेज कहते हैं, जिससे अशित-पीत-लीढ और खादित अन्न का विधिवत् पाक होता रहता है।

"आकरज तेज"—भूगर्भ में रहने वाला तेज जिससे समस्त धातुओं का निर्माण व पाक होता रहता है, आकरज तेज कहलाता है। जैसे—खानों में जो उष्मा अनुभव की जाती है और वहां पर उस उष्मा के द्वारा ही सभी वस्तुओं का पाक होता है, तदनन्तर ही वे अपने उपयोग के योग्य बन पाती हैं। इस प्रकार के समस्त कार्य आकरज तेज से होते हैं।

तेज का निर्दुष्ट लक्षण—"समवायेन उष्ण स्पर्शवत्वं तेजस्त्वम्। अर्थात् जिसमें समवाय सम्बन्ध से उष्ण स्पर्श रहे, उसे तेज कहते हैं। जलादि में जो उष्ण स्पर्श की प्रतीति होती है, वह तेज के सम्बन्ध से ही होती है इसलिए यह लक्षण अव्याप्ति अतिव्याप्ति दोष से दुष्ट नहीं है।

वायु निरूपण—

१. "रजो बहुलो वायुः।"—सुश्रुत। २. "आकाशाद् वायुः।"—तैत्तरीयोपनिषद्। ३. "आकाशस्तु विकुर्वाणात् सर्वगन्धवहः शुचिः।"—मनु

४. "आकाशस्तु विकुर्वाणः स्पर्शमात्रं ससर्ज ह।
वायुरुत्पद्यते तस्मात् तस्य स्पर्शो गुणोमतः॥" —विष्णुपुराण

५. "अपाकजोऽनुष्णशीतस्पर्शस्तु पवने मतः।
तिर्यग्गमनवानेष ज्ञेयः स्पर्शादिलिङ्गकः॥
पूर्ववन्नित्यतायुक्तं देशव्यापित्वगिन्द्रियम्।
प्राणादिस्तु महावायुपर्यन्तो विषयो मतः॥" —मुक्तावली

६. "स्पर्श-संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्वापरत्व-संस्कारवान् स्पर्शोऽस्यानुष्णशीतत्वे सत्यपाकजः, गुणविनिवेशात् सिद्धः। अरूपिष्वचाक्षुषवचनात् सप्त संख्यादयः। तृण-कर्मवचनात् संस्कारः।" —प्रशस्तपाद

वायु रजोगुण प्रधान होता है। आकाश से या आकाश के अनन्तर वायु की उत्पत्ति हुई। सभी प्रकार के गन्ध का वहन करने वाले पवित्र वायु की उत्पत्ति आकाश से हुई। आकाश के अनन्तर स्पर्श तन्मात्रा की उत्पत्ति हुई और उससे स्पर्श गुण वाला वायु उत्पन्न हुआ। वायु में अपाकज और अनुष्णाशीत स्पर्श होता है। यह तिर्यग्गामीवात स्पर्श से जाना जाता है। परमाणु रूपात्मक नित्य तथा अवयव युक्त व कार्य रूप अनित्य होता है। य

शरीर-इन्द्रिय और विषय भेद से तीन प्रकार का होता है। शारीर-संज्ञक के दो भेद हैं—योनिज और अयोनिज। इन्द्रिय-संज्ञक देहव्यापी त्वचा और विषयसंज्ञक प्राणादि पञ्चक महावायु है। स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व और संस्कार ये गुण वायु में होते हैं। यह अपाकज और अनुष्णशीत स्पर्श वाला है। रूप गुण नहीं होने से इसका चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता। वायु के द्वारा तृण के हिलने से संस्कार सिद्ध होता है।

वायवीयशरीर वायुलोक में होता है। यह वायु तत्त्व से बनता है, अतः इसके गुण धर्मानुसार यह शरीर अदृश्य व शीघ्र गतिमान् माना गया है। एतदर्थ इसका चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता। वायवीय इन्द्रिय त्वचा है, जिसके द्वारा ही सभी प्रकार के स्पर्श का ज्ञान होता है। यह वायु का नैसर्गिक गुण है। आयुर्वेद की यह मान्यता है कि एक ही त्वगिन्द्रिय सभी इन्द्रियों में व्याप्त है। अतः विना त्वगिन्द्रिय के किसी भी विषय के सम्पर्क के विना कोई भी ऐन्द्रियक ज्ञान नहीं होता है। यथा—"तत्रैकं स्पर्शनेन्द्रियमिन्द्रिय-व्यापकम्।" वायवीय विषय-वृक्ष, लता और तृणादियों के कम्पन का कारण-विषय रूप वायु ही है इसी प्रकार शरीर में रक्ताभिसरण क्रिया, श्वासोच्छ्वास व अंगों की विविध चेष्टायें वात विषयक ही मानी गई हैं। वायु का निर्दुष्ट लक्षण—वायु का गुण स्पर्श है। यह तीन प्रकार का होता है—शीत स्पर्श, उष्णस्पर्श और अनुष्णाशीत स्पर्श। शीतस्पर्शजल में, उष्ण स्पर्श तेज में तथा अनुष्णाशीत स्पर्श वायु एवं पृथ्वी में रहता है। रूप-रस-गन्ध तथा स्पर्श ये चारों गुण तेज के पाक के कारण पाकज और अपाकज होते हैं। ये चारों गुण पृथ्वी में पाकज तथा वायु तेज तथा जल में अपकाज रूप से रहते हैं। अतः "जिस द्रव्य में अपाकज तथा अनुष्णाशीत स्पर्श रहे उसे वायु कहते हैं।" स्पर्श यद्यपि पृथ्वी में भी अनुष्णाशीत रहता है परन्तु उसमें पाकज स्पर्श है तथा अपाकज स्पर्श तेज और जल में भी है परन्तु उसमें अनुष्णाशीत स्पर्श नहीं है। अतः यह लक्षण अतिव्याप्ति दोष से दुष्ट नहीं हैं। यही वायु का निर्दुष्ट लक्षण है।

आकाश निरूपण—

१. "सत्त्वबहुलमाकाशम्"—सुश्रुत ।

२. "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः ॥"—तैत्तरीयोपनिषद् ।

३. "भूतादिस्तु विकुर्वाणः शब्दमात्रं ससर्ज ह ।
आकाशं सुषिरं तस्मादुत्पन्नं शब्दलक्षणम् ।"—मनुः ।

४. "आकाशस्य तु विज्ञेयः शब्दो वैशेषिको गुणः ।
इन्द्रियन्तु भवेत् श्रोत्रमेकः सन्नपायुधितः ॥"—मुक्तावली ।

सत्त्व गुण प्रधान आकाश होता है । उस आत्मा से आकाश की उत्पत्ति हुई । भूतोत्पत्ति क्रम में शब्द तन्मात्रा से सुषिर और शब्द गुण वाले आकाश की उत्पत्ति हुई । आकाश का विषय संज्ञक गुण शब्द है । इन्द्रिय श्रोत्र है । एक होता हुआ भी उपाधि भेद से अनेक बन जाता है । आकाश में शब्द, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग ये ६ गुण होते हैं । आकाश में केवल शब्द रहता है इसका वैशेषिक दर्शन निरूपण करता है कि रूप-रस-गन्ध और स्पर्श आकाश में नहीं होते । इससे यही स्पष्ट होता है कि, भूतोत्पत्ति क्रम में सर्व प्रथम आकाश की उत्पत्ति हुई । इतना ही नहीं श्रुति-स्मृति पुराणादि सभी मतैक्य से इसको स्वीकार करते हैं । आधुनिक वैज्ञानिक भी इसी मत के समर्थन में कहते हैं कि, आकाश का ही परिणाम, द्रव्य है अर्थात् द्रव्य आकाश का रूपान्तर मात्र है ।

ईथर और आकाश की एकरूपता—आकाश विभु होने से एक और सूक्ष्म है । विश्व की प्रत्येक इकाई में इसकी सत्ता विद्यमान रहती है । वाय्वादि परमाणुओं के अतिरिक्त यह सर्वत्र व्याप्त रहता है । सृष्टि काल में सर्व प्रथम आकाश ही उत्पन्न होता है । इसी से तदनन्तर वायु-तेज-जल और पृथ्वी की उत्पत्ति होती है । जैसाकि गुण विज्ञानीय अध्याय में वर्णन किया गया है कि आकाश ही शब्द की उत्पत्ति में समवायी कारण है और यह ही उसका वाहक । आकाश में प्रतिरोधक गुण का अभाव होता है एतदर्थ शब्द, आकाश के माध्यम से कुछ ही क्षण में दूर देश तक गमन कर जाता है । आधुनिक विज्ञानवादी आकाश के समान एक दूसरे द्रव्य की कल्पना प्रस्तुत करते हैं । उनके मतानुसार सृष्टि के मूल उत्पादक हेतु इलेक्ट्रोन, प्रोटोन आदि सभी

सूक्ष्मकरण एक इस प्रकार के द्रव्य से बने होते हैं जो तरल, सूक्ष्म एवं सर्वत्र व्याप्त रहता है। उनके सिद्धान्त से जब दो मूर्तिमान् द्रव्यों का संयोग होता है तब यह ईथर उनके संयोग में बाधा उत्पन्न करता है फलतः शब्द की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार उत्पन्न हुआ शब्द ईथर के माध्यम से ही तत्काल सर्वत्र फैल जाता है। यही कारण है कि, दूर देश में उत्पन्न हुए शब्द का रेडियो वेव के द्वारा तत्काल श्रवण कर लिया जाता है। इस प्रकार आकाश के गुण कर्म-ईथर के समान होने से इन दोनों की एक रूपता स्वीकार की गई है।

आकाश का द्रव्यत्व साधन :—आधुनिक विज्ञानवादियों ने आकाश में द्रव्यत्व धर्म न मानकर इसे केवल अलीक संज्ञा दी है। जबकि आयुर्वेद इसमें द्रव्यत्व धर्म की सिद्धि करके इसे कारण द्रव्य स्वीकार करता है। आचार्य चरक ने **"यत्राश्रिताः कर्मगुणाः कारणं-समवायियत् तत् द्रव्यम्"** यह द्रव्य की परिभाषा की है, इसी परिभाषा के अनुसार आकाश में गुण कर्मों की सिद्धि करके उसके द्रव्यत्व की सिद्धि की है। आकाश का गुण शब्द है एवं कर्म अप्रतिघात। प्रशस्तपाद ने आकाश के शब्द, संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग और विभाग ये ६ गुण बतलाये हैं। आचार्य सुश्रुत आकाशप्रधान द्रव्यों के लक्षणों का निरूपण करते हुए लिखते हैं—**"आन्तरिक्षास्तु शब्दः शब्देन्द्रियं सर्वच्छिद्रसमूहो विविक्तता च"** १। —सु.शा. इस प्रकार आकाश के गुण और कर्म होनें से इसके द्रव्यत्व की सिद्धि होती है।

द्रव्यों का नित्यानित्यत्व—

१. न्यायदर्शन में भूतपरमाणु, विभुचतुष्टय और परमाणुमन नित्य हैं। कार्यभूतचतुष्टय, औपाधिकविभुचतुष्टय अनित्य होते हैं। २. वेदान्त केवल ब्रह्म को नित्य मानता है और इस सम्पूर्ण विवर्त को अनित्य। ३. सांख्य मतानुसार मूल प्रकृति और पुरुष दोनों नित्य हैं तथा शेष ७ प्रकृति-विकृति और १६ विकार अनित्य हैं। ४. आयुर्वेद में प्रकृति, पुरुष, चरकोक्त षट् पदार्थ व ९ कारण द्रव्यों को नित्य माना गया है। क्योंकि आचार्य चरक ने नित्य की परिभाषा कहते हुए लिखा है कि—

"सद् कारणवान्नित्यं दृष्टं हेतुजमन्यथा।

तदेव भावादग्राह्यं नित्यत्वान्न कुतश्चन ।
भावाज्ज्ञेयं तदव्यक्तमचिन्त्यं व्यक्तमन्यथा ।।"

अर्थात् जिनकी सत्ता निरन्तर बनी रहे, जो स्वयं किसी का कार्य न हो, प्रत्युत कारण ही रहे । भाव से अग्राह्य – जिनका ऐन्द्रियक प्रत्यक्ष न हो सके, अचिन्त्य हों वे नित्य होते हैं । इसके विपरीत जिनकी निरन्तर सत्ता रहे जो स्वयं किसी का कार्य हो, भाव से ग्राह्य और चिन्त्य हो उन्हें अनित्य द्रव्य कहते हैं । अतः कार्य द्रव्य अनित्य एवं कारण द्रव्य नित्य हैं । परन्तु आकाशादि नो कारण द्रव्यों में से वायु-तेज-जल-पृथ्वी, ये चार द्रव्य परमाणु रूप में नित्य हैं एवं कार्य रूप में अनित्य ।

द्रव्यों का साधर्म्य वैधर्म्य—

जिस प्रकार प्रकृति और पुरुष के साधर्म्य और वैधर्म्य को जान कर संसार के जड़ और चेतन इस प्रकार दो विभाग कर देते हैं और उनका तत्त्व परिचय भी प्राप्त हो जाता है । उसी प्रकार यहां पर भी इन नो कारण द्रव्यों में साधर्म्य जानना अति आवश्यक है । इन नो द्रव्यों में द्रव्यत्व, समवेतक जनकत्व, गुणवत्व, कार्यकारणभाव और नित्यानित्यत्व, विशेषवत्व, समान तया रहने से इनको साधर्म्य भाव कहते हैं । पृथ्वी, जल, तेज, वायु और मन में अनेकत्व और परापरत्व, अणुत्व, गुरुत्व, संख्या क्रियावत्व धर्म समान रूप से रहते हैं । आकाश, काल, दिशा और आत्मा में विभुत्व या सर्वगत्व और स... धर्म रहता है । पृथिवी आदि पांच भूतों में भूतत्व और इन्द्रियोपादानत्व समान रूप से रहता है । आकाश में शब्दत्व, वायु में शब्द स्पर्शत्व, तेज में शब्द, स्पर्श, रूपवत्व, जल में शब्द, स्पर्श, रूप, रसवत्व और पृथिवी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस गन्धवत्व धर्म रहता है । इसके अतिरिक्त पृथिव्यादि पांचों में खर-द्रव-उष्ण-चल और अप्रतिघातत्व क्रमशः रहते हैं ।

तम का द्रव्यत्व और उसका खण्डन—

पृथिवी, अप, तेज आदि जिस प्रकार द्रव्यत्व संज्ञा से अवबोधित किये जाते हैं उसी प्रकार तम को भी दसवां द्रव्य मानना चाहिये । क्योंकि "गुणाश्रिताः कर्मगुणाः कारणं समवायि यत् तद् द्रव्यम्" इस द्रव्य लक्षणानुसार

तदेव भावादग्राह्यं नित्यत्वान्न कुतश्चन ।
भावाज्ज्ञेयं तदव्यक्तमचिन्त्यं व्यक्तमन्यथा ॥"

अर्थात् जिनकी सत्ता निरन्तर बनी रहे, जो स्वयं किसी का कार्य न हो, प्रत्युत कारण ही रहे। भाव से अग्राह्य — जिनका ऐन्द्रियक प्रत्यक्ष न ह सके, अचिन्त्य हों वे नित्य होते हैं। इसके विपरीत जिनकी निरन्तर सत्ता रहे जो स्वयं किसी का कार्य हो, भाव से ग्राह्य और चिन्त्य हो उन्हें अनि द्रव्य कहते हैं। अतः कार्य द्रव्य अनित्य एवं कारण द्रव्य नित्य हैं। पर आकाशादि नो कारण द्रव्यों में से वायु-तेज-जल-पृथ्वी, ये चार द्रव्य परमा रूप में नित्य हैं एवं कार्य रूप में अनित्य ।

द्रव्यों का साधर्म्य वैधर्म्य—

जिस प्रकार प्रकृति और पुरुष के साधर्म्य और वैधर्म्य को जान क संसार के जड़ और चेतन इस प्रकार दो विभाग कर देते हैं और उनका तत्त्व परिचय भी प्राप्त हो जाता है। उसी प्रकार यहां पर भी इन नो कारण द्र में साधर्म्य जानना अति आवश्यक है। इन नो द्रव्यों में द्रव्यत्व, समवेतक जनकत्व, गुणवत्व, कार्यकारणभाव और नित्यानित्यत्व, विशेषवत्व, समा तया रहने से इनको साधर्म्य भाव कहते हैं। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और मन में अनेकत्व और परापरत्व, अणुत्व, गुरुत्व, संख्या क्रियावत्व धर्म समान रूप से रहते हैं। आकाश, काल, दिशा और आत्मा में विभुत्व या सर्वगत्व और स

तम में गुण और कर्म दोनों रहते हैं और प्रत्यक्षतः तम की उपलब्धि भी होती है। चन्द्रमा की अनुपस्थिति में अर्द्ध रात्रि के समय केवल अन्धकार ही अन्धकार दिखाई देता है। अतः प्रत्येक व्यक्ति के द्वारा देखे जाने वाला यह तम द्रव्यत्वेन परिगणनीय है। "प्रत्यक्षे किं प्रमाणम्" के अनुसार तम का प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञान हो जाता है। अतः इसको दसवाँ द्रव्य मानने में कोइ विप्रतिपत्ति नहीं होनी चाहिये।

यदि यह कहा जाय कि, उपर्युक्त नौ कारण द्रव्यों में इसका अन्तर्भाव हो जाने से इसको पृथक् रूप से नहीं माना गया है, यह कथन भी प्रमाणित नहीं होता, क्योंकि—(१) पृथ्वी में समवाय सम्बन्ध से गन्ध रहता है जबकि, तम में निश्चित रूप से गन्ध का अभाव माना गया है। इसलिए तम का पृथ्वी में अन्तर्भाव नहीं हो सकता। (२) जल की भांति तम में द्रव, रस और शीतस्पर्श के अभाव में तम का जल में समावेश नहीं किया जा सकता। (३) तेज जो कि, उष्ण स्पर्शवान् एवं भास्वर स्वरूप माना गया है, यह सर्वथा तम से विरूद्ध है। क्योंकि, तम में उष्णस्पर्श एवं भास्वर स्वरूप का सर्वथा अभाव होता है अतः तेज में तम का अन्तर्भाव कथमपि सम्भव नहीं है। (४) वायु का प्रत्यात्मनियतस्पर्श माना गया है और वायु निरन्तर गतिशील द्रव्य है। इन दोनों गुणों की उपलब्धि तम में नहीं होने से इसका वायु में अन्तर्भाव नहीं हो सकता। (५) आकाश एक रूप रहित द्रव्य है जबकि, तम रूप वाला कहा जाता है। इसके अतिरिक्त आकाश की व्यापकता भी तम के विरूद्ध है। अतः तम का समावेश आकाश में भी नहीं हो सकता। (६) आत्मा के ज्ञानवान्, चेतन और विभुत्व होने से तम का यहाँ पर भी समावेश असम्भव है। (७) मन-एक, अणु और गतिमान् है। ये तीनों गुण तम में नहीं होते, इसलिए मन में भी तम का अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता। (८) काल सर्वत्र व्यापक और रूप विहीन द्रव्य है. इसलिए यहाँ भी तम का समावेश नहीं हो सकता। (९) इन्हीं कारणों से दिशा में भी इसका सन्निवेश नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार ९ कारण द्रव्यों में तम का समावेश नहीं होने के कारण इसकी पृथक् स्वतंत्र सत्ता को स्वीकार करके द्रव्यों की दशम संख्या पर लिखा जाना चाहिए।

उपर्युक्त प्रमाणों से तम में द्रव्यत्व का मिथ्या आभास होता है। वस्तुतः तम को दशवाँ पृथक् द्रव्य मानना प्रमाण विरूद्ध है। क्योंकि, इसमें द्रव्यत्व का अभाव है। तम रूप में जिस किसी को जो कुछ भी दिखाई देता है वह केवल मात्र प्रकाश या तेज का अभाव है और जब अभाव को स्वीकार किया जाता है तो उसकी पृथक् स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानी जा सकती। कुछ व्यक्तियों का यह तर्क है कि, तम का अभाव प्रकाश है। इसलिये तम को द्रव्यत्वेन मान कर प्रकाश को उसका अभाव माना जा सकता है, परन्तु यह युक्ति और प्रमाण विरूद्ध है। क्योंकि, तेज की असिद्धि, अप्रामाणिकता व तम का अभाव कथमपि नहीं हो सकता। जहाँ तेज को प्रकाशमान, रूपत्वेन चक्षुरिन्द्रियग्राह्य, उष्णस्पर्शत्वेन त्वगिन्द्रियग्राह्य, दहनपचनादिकर्म शरीर के अन्दर कर्मानुमेय और बाहर प्रत्यक्षतः परिज्ञेय है। अतः तेज तम का अभाव नहीं होकर स्वतन्त्र द्रव्य है। हमको इस प्रकार की प्रतीति कि,—तम चलता है और वह रूपवान् है, सर्वथा भ्रान्ति मूलक है। क्योंकि, प्रकाश की ही गति होती है, न कि तम की। जैसे जैसे प्रकाश चलता है उसके आगे आगे या पीछे पीछे तम भी चलता हुआ दिखाई देता है। यह चलन प्रक्रिया केवल मात्र तेज की ही है। तम में गति की केवल भ्रान्ति ही हो जाती है। इस विषय को हम किसी भी पशु-पक्षी या मनुष्य की छायाविशेष से समझ सकते हैं। छायावान् चलता है न कि छाया, यथा हम रात्रि में चन्द्रमा की चाँदिनी में जैसे जैसे धीरे धीरे या तेजी से चलते हैं, उसी प्रकार छाया भी चलती है।

तेज रूपवान् होता है जिसका ग्रहण चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा होता है। चक्षुरिन्द्रिय से विषय का ग्रहण प्रकाश में होता है न कि अन्धकार में। पांचों ज्ञानेन्द्रियों में यही एक इन्द्रिय है जो प्रकाश में ही विषय का ग्रहण कर सकती है। पाँचों विषयों में भी रूप ही एक ऐसा विषय है जो कि, अन्धकार में कथमपि ज्ञेय नहीं है। इसलिए तम तेज का अभाव है न कि, तेज तम का अभाव। इन उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह निर्विवाद सत्य है कि तम तेज का अभाव है, इसलिए इसको दशवाँ द्रव्य नहीं माना जा सकता।

- द्रव्य
  - कारण द्रव्य
    - आकाश — नित्य
    - वायु
      - परमाणु — नित्य
      - कार्य — अनित्य
    - तेज
      - परमाणु — नित्य
      - कार्य — अनित्य
    - जल
      - परमाणु — नित्य
      - कार्य — अनित्य
    - पृथ्वी
      - परमाणु — नित्य
      - कार्य — अनित्य
    - आत्मा — नित्य
    - मन — नित्य
    - काल — नित्य
    - दिक् — नित्य
  - कार्य द्रव्य

वायु कार्य रूप (अनित्य)

- शरीर संज्ञक — वायवीय शरीर
- इन्द्रिय संज्ञक — स्पर्शनेन्द्रिय
- विषय संज्ञक — प्राणादिवायु

जल कार्य रूप (अनित्य)

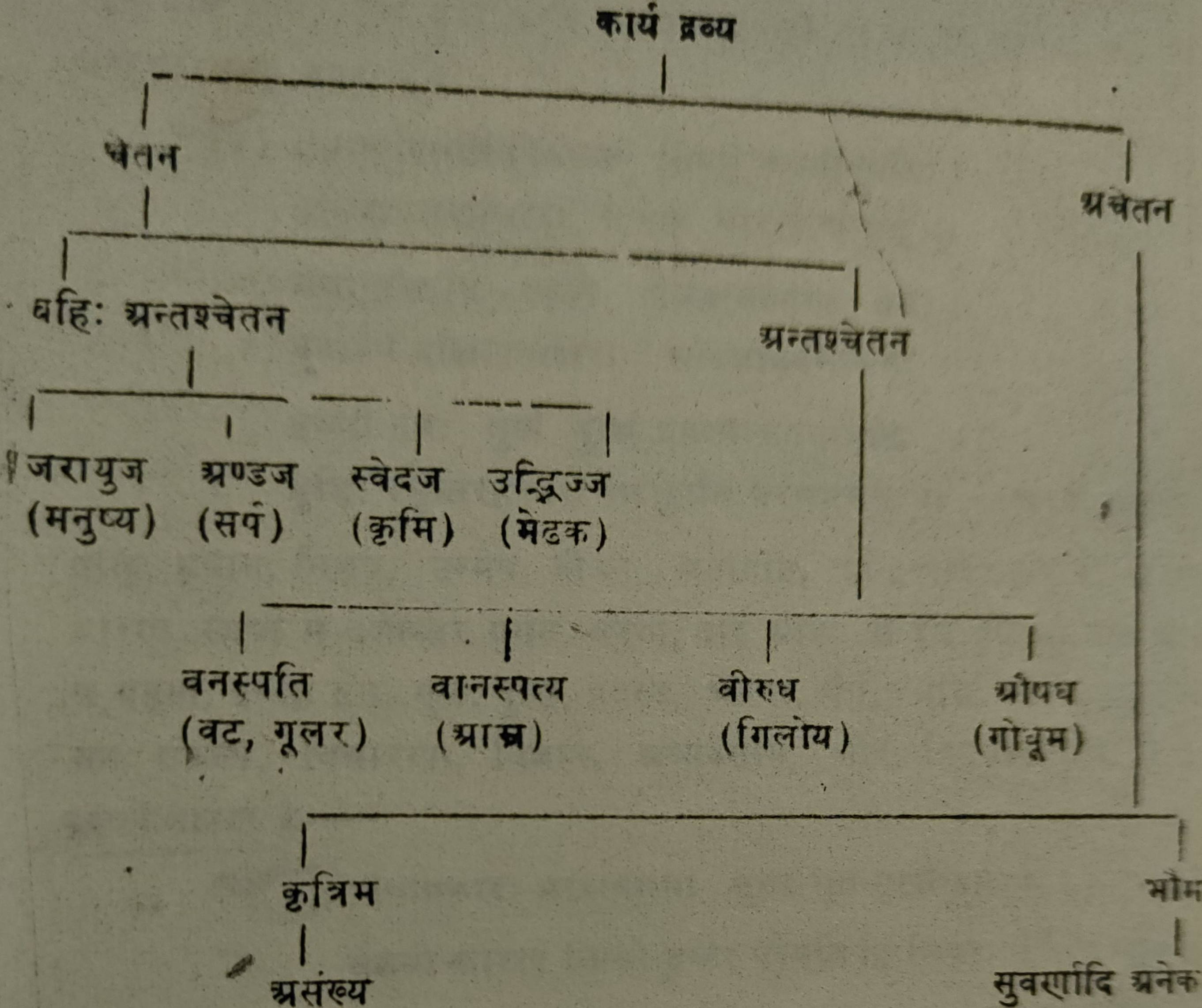
- शरीर संज्ञक — जलीय शरीर
- विषय संज्ञक — समुद्र, तालाब आदि
- इन्द्रिय संज्ञक — रसनेन्द्रिय

अग्नि कार्य रूप (अनित्य)

- शरीर संज्ञक — तैजस शरीर
- विषय संज्ञक
  - (१) भौम
  - (२) दिव्य
  - (३) औदर्य
  - (४) आकरज
- इन्द्रिय संज्ञक — चक्षु इन्द्रिय

पृथ्वी कार्य रूप (अनित्य)

- शरीर संज्ञक
  - योनिज — मनुष्य, आदि के शरीर
  - अयोनिज
- विषय संज्ञक — मिट्टी पत्थर आदि
- इन्द्रिय संज्ञक — घ्राणेन्द्रिय



"भेत्ता हि भेद्यमन्यथा भिनत्ति" इस चरकीय वचनानुसार किसी भी वस्तु के भेद, भेदक कारणों की भिन्नता से अनेक प्रकार से किये जा सकते हैं। यहां पर उपर्युक्त भेद की तालिका द्रव्यों की उत्पत्ति व उनके स्वरूप को समझने के लिये दी गई है।

पाश्चात्य विज्ञान के अनुसार तथा आयुर्वेदीय द्रव्यगुण व चिकित्सा विज्ञान में द्रव्यों की भेदमूलक विवेचनायें भिन्न २ प्रकार से प्रस्तुत की गई हैं। परन्तु उनका यहां विशेष प्रयोजनाभाव से उल्लेख नहीं किया गया है।

आत्मविज्ञानीय

अध्याय ७

आत्म निरूपण

आत्म शब्द की निरुक्ति--अतसातत्यगमने धातु से "सातिभ्यां मनिन् मनिणौ" इति मनिण। जो निरन्तर गतिशील हो उसे "आत्मा" कहते हैं। यह उपर्युक्त निरुक्ति लभ्य अर्थ है। जो चेतन हो वही गतिशील होता है। विश्व में केवल आत्मा ही चेतन है, शेष सभी जड़ हैं। अतः चेतन होने से आत्मा ही गतिशील हो सकती है। इसी निरुक्ति के समर्थन में आचार्य चरक कहते हैं—"**चेतनावान् यतश्चात्मा ततः कर्ता निरुच्यते**"।

आत्मा का लक्षण-१. "**ज्ञानाधिकरणमात्मा**" ज्ञान के अधिकरण को आत्मा कहते हैं। (तर्क संग्रह)। २. "**समवायेन ज्ञानाधिकरणमात्मनो-लक्षणम्**" समवाय सम्बन्ध से ज्ञान के अधिकरण को आत्मा कहते हैं ३. इसी प्रकार "**ज्ञाननिरूपिताश्रयत्वमात्मनो लक्षणम्**" यहां पर ज्ञान के आश्रय को आत्मा का लक्षण कहा है।

(४) "**आत्मेन्द्रियाद्यधिष्ठाता करणं हि सकर्तृकम्।**
शरीरस्य न चैतन्यं मृतेषु व्यभिचारतः॥
तथात्वं चेन्द्रियाणामुपघाते कथं स्मृतिः।
मनोऽपि न तथा ज्ञानाद्यनध्यक्षं तदा भवेत्॥"--मुक्तावली।

आत्मा इन्द्रियों का अधिष्ठाता है क्योंकि करणों का कोई न कोई कर्ता (अधिष्ठाता) होता है। मरने पर शरीर में चेतना नहीं दिखाई देती। अतः चेतना शरीर का गुण नहीं है। यदि चेतन धर्म इन्द्रियों का मानलें तो इन्द्रियों के उपघात होने पर उनके द्वारा गृहीत वस्तुओं का स्मरण कैसे होगा। इसी प्रकार मन भी चेतन नहीं है। मन को चेतन मानने से मन के अन्दर

रहने वाले ज्ञान, सुख दुःख आदि का प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा क्योंकि, वह स्व अणु परिमाण वाला है।

(५) "प्राणापानौनिमेषाद्या जीवनं मनसो गतिः।
इन्द्रियान्तरसंचारः प्रेरणं धारणं च यत् ॥
देशान्तरगतिः स्वप्ने पञ्चत्वग्रहणं तथा।
दृष्टस्य दक्षिणेनाक्ष्णा सव्येनावगमस्तथा ॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं प्रयत्नश्चेतनाधृतिः।
बुद्धिः स्मृतिरहंकारो लिङ्गानि परमात्मनः ॥"—चरक शारीर।

प्राण, अपान, निमेष, उन्मेष, जीवन, मनोगति, इन्द्रियान्तर-संचार, प्रेरण, धारण, स्वप्न में देशान्तर गमन, मरण, दाईं आंख से देखे हुए का बाईं आंख से ग्रहण, इच्छा द्वेष, सुख, दुःख, प्रयत्न, चेतना, धैर्य, बुद्धि, स्मृति, अहंकार, मनः संकल्प, विचारणा, विज्ञान, अध्यवसाय, और विषयोपलब्धि ये सब पुरुष के लक्षण हैं—

(६) "निर्विकारः परस्त्वात्मा सत्व-भूत-गुणेन्द्रियैः।
चैतन्ये कारणं नित्यो द्रष्टा पश्यति हि क्रियाः ॥"—च०सू०१।

सूक्ष्म (श्रेष्ठ) आत्मा निर्विकार है, वह मन, भूत-गुण तथा इन्द्रियों से संयुक्त होने पर चैतन्य में कारण, नित्य और द्रष्टा होता है।

आत्मा की द्रव्यत्व सिद्धि—

"खादीन्यात्मा मनः कालो दिशश्चद्रव्यसंग्रहः" च०सू०। आत्मा एक द्रव्य है। द्रु-गतौ धातु से द्रव्य शब्द का निर्माण होता है। अतः द्रव्य का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ है कि जिसमें गति हो, उसे द्रव्य कहते हैं। गति के भी तीन अर्थ हैं--ज्ञान, गमन और प्राप्ति। इस प्रकार द्रव्य शब्द की निरुक्ति से यह उपलब्ध होता है कि जो ज्ञान का विषय हो, जिसमें गमन क्रिया उत्पन्न होती हो और जिसकी प्राप्ति होती हो, उसे द्रव्य कहते हैं। आत्मा स्वयं ज्ञान का विषय है, एक लोक से दूसरे लोक में, एवं एक शरीर से दूसरे शरीर में गति करता है। अनुमान, युक्ति आदि सभी प्रमाणों से आत्मा की

सिद्धि होती है, इसलिए आत्मा द्रव्य कहलाता है। आचार्य चरक के मतानुसार जिसमें कर्म और गुण आश्रित रहते हों और जो समवायि कारण हो उसको द्रव्य कहते हैं। आत्मा में कर्म (व्यापार) रहता है क्योंकि वह एक लोक से दूसरे लोक में गति करता है और उसमें बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, धर्म, अधर्म आदि गुण रहते हैं तथा वह मनुष्य, पशु, पक्षी आदि चेतन जगत् की उत्पत्ति का समवायि कारण भी होता है। यदि इनमें आत्मा के उक्त गुण नहीं हो तो इनमें और पत्थर में कोई अन्तर नहीं रह जाता। इसलिए कर्म गुणों का आश्रय होने और चेतन जगत् का समवायि कारण होने से आत्मा को द्रव्य माना जाता है।

ऐन्द्रियक प्रत्यक्षाभाव—आचार्यों की मान्यता है कि "**सतामपि भावानामतिदूरादतिसामीप्यात् अभिभवात्**" आदि कारणों से ऐन्द्रियक प्रत्यक्ष नहीं हो पाता, अतः आत्मा के अति सूक्ष्म-अव्यक्त होने के कारण उसका ऐन्द्रियक प्रत्यक्ष नहीं कर सकते। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि ऐन्द्रियक प्रत्यक्षाभाव के कारण आत्मा है ही नहीं। यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक भाव का प्रत्यक्ष हो। जैसाकि ईश्वरकृष्ण ने सांख्यकारिका में कहा है—"**सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिर्नाभावात् कार्यतस्तदुपलब्धेः**"। अतः इस सिद्धान्त से इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं होने पर भी आत्मा अवश्य है।

मानस प्रत्यक्षाभाव—सन्निकर्षज प्रत्यक्ष ज्ञान में-आत्मा मन से, मन इन्द्रियों से, इन्द्रियाँ विषयों से, इस प्रकार संयोग होता है। इस पद्धति के संयोग में आत्मा से "**इच्छा**" का सन्तान मन में, मन से इन्द्रियों में और इन्द्रियों से विषयों में पहुँचता है, इसको "**दिदृक्षा**" कहते हैं। इच्छा आत्मगुण है, जो इस प्रकार सन्निकर्ष होनें पर बाहर आती है। इसके अनन्तर विषय के रूप का बिम्बन इन्द्रियों में, इन्द्रियों से मन में, मन से आत्मा में "**ज्ञान धारा**" पहुँचती है। तात्पर्य यह है कि, सन्निकर्षज प्रत्यक्ष में बाहर से जाने वाले ज्ञान को ही मन आत्मा को पहुँचाता है। इस सिद्धान्त के मानने पर मन भी आत्मा के प्रत्यक्ष नहीं कर सकता। अतः आत्मा मानस प्रत्यक्ष भी नहीं है।

आत्मा बुद्धि गम्य नहीं है—पूर्व सन्दर्भ में बताया गया है कि, आत्मा की ज्ञान धारा बाहर नहीं आती, अपितु इच्छा धारा आती है। केवल

बाहर से ही ज्ञान धारा भीतर जाती है। विषय, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से होकर ज्ञान धारा आत्मा में पहुँचती है। इसलिए आत्मा का बौद्धिक प्रत्यक्ष भी नहीं होता। जैसा कि कहा है—

"इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥"

विषयों से दूर इन्द्रियाँ, इन्द्रियों से दूर मन, मन से दूर बुद्धि और बुद्धि से दूर आत्मा है। इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि साधनों से आत्मा का प्रत्यक्ष हो भी कैसे सकता है? क्योंकि जो प्रत्यक्ष आत्मा के सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है, वह आत्मा का प्रत्यक्ष किस हेतु से करा सकेगा? यथा—चक्षुरिन्द्रिय संसार का प्रत्यक्ष कराती है, परन्तु वह अपने आप का प्रत्यक्ष नहीं कर सकती। इसी प्रकार जो आत्मा अपने सन्निकर्ष से इन्द्रियों के द्वारा विषयों का प्रत्यक्ष करवाता है, उस आत्मा का प्रत्यक्ष उन इन्द्रियों के द्वारा कदापि नहीं हो सकता।

अनुमान से आत्म सिद्धि—इन्द्रिय, मानस और बौद्धिक प्रत्यक्ष से जब आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं हुआ हो, तो आचार्य चरक उसकी (आत्मा) सत्ता को अनुमान प्रमाण से सिद्ध करते हुए कहते हैं कि, प्रकाश और अन्धकार, सत्य और झूठ, ज्ञान व अज्ञान, शुभाशुभ कर्म इन सबका समीक्षक आत्मा नहीं होगा तो और कौन होगा? इन्द्रियाँ, मन इत्यादि को बोद्धा और समीक्षक नहीं मान सकते, क्योंकि ये तो करण हैं और करण के प्रयोग के लिए कर्ता की आवश्यकता होती है। बिना कर्ता के कहीं कुठार को लकड़ी काटते नहीं देखा। इसलिए कर्ता – आत्मा ही इन्द्रिय, मन आदि को साथ लेकर सम्पूर्ण कर्मों का कारण होता है। क्योंकि यह एक सत्य है कि, संसार के सम्पूर्ण पदार्थ या शरीर की सम्पूर्ण शारीर सम्पत् किसी भोक्ता के लिये होती है। यदि आत्मा को नहीं मानेंगे तो सम्पूर्ण ज्ञान का आश्रय कौन होगा? आत्मा चेतन है, अतः इसके अभाव में जड़ शरीर में गमनागमन की क्रियाएं कैसे सम्पन्न होंगी? बिना चेतन के जिह्वा के द्वारा वाणी का उच्चारण कैसे होगा? आत्मा को नहीं मानेंगे तो जन्म-मरण भी नहीं होंगे। मैं और मेरे का आत्मीय भाव भी नहीं होगा। मोक्ष और बन्धन भी कैसे होंगे? इसलिए

हम व्याप्ति ग्रहण करके यह अनुमान वाक्य बनाते हैं कि "यत्र यत्र भास्तमः आदि सत्वम् तत्र तत्र आत्मा अस्मदादिवत् (अन्वय व्याप्ति)। यत्र यत्र आत्मनः अभावः तत्र तत्र भास्तमः आदि अभावः (व्यतिरेक व्याप्ति)।" इस प्रकार अन्वय और व्यतिरेक से यह निष्कर्ष निकलता है कि आत्मा एक अनुमान सिद्ध द्रव्य है।

युक्ति से आत्मा की सिद्धि—किसी एक जगह बहुत से कारणों के समुदाय से कार्य को उत्पन्न होता देख, उसके अतिरिक्त उत्पन्न हुए किसी स्थल में जिसके कारण का पता नहीं है, कारण की कल्पना कर लेना युक्ति कहलाता है। अगर किसी घर में मिट्टी, चक्र, चक्र चलाने का दण्ड आदि सम्पूर्ण सामग्री पड़ी हुई हो तो क्या कभी घडा बन सकता है? किसी जगह अगर मिट्टी, चूना, पत्थर आदि रख दिये जायें तो क्या घर अपने आप बन सकता है? इन दोनों युक्तियों से सिद्ध होता है कि जड़ उपकरणों की सत्ता होते हुए भी जब तक घटकर्ता कुम्भकार और भवनकर्ता शिल्पी नहीं होगा तब तक घट और भवन का निर्माण नहीं हो सकता। इसी प्रकार यहाँ भी विषय, इन्द्रियाँ, बुद्धि, मन इन सब जड़ करणों के होते हुए भी जब तक चेतन आत्मा नहीं होगा तब तक शरीर का निर्माण नहीं होगा। यदि किसी ने विना कर्ता के घड़ा और विना शिल्पी के मकान बना हुआ देखा हो, तो हम भी विना आत्मा के, केवल मन, बुद्धि, इन्द्रियों आदि से बना शरीर कह सकते हैं।

लक्षणों से आत्मा की सिद्धि—

संसार की समस्त वस्तुयें प्रकृति-प्रसूत होने से जड़ ही होती है, उनमें चेतन तथा ज्ञान ये दोनों ही धर्म नहीं होते हैं जबकि हम चेतन प्राणियों में ज्ञत्व और चेतनत्व दोनों ही धर्म प्राप्त करते हैं जो कि आत्मा के माने गये हैं अतः इन सभी कारणों से आत्मा की सिद्धि होती है।

आत्मा का नित्यत्व—(१) संसार के सभी पदार्थ दो प्रकार के हैं—ऋत और सत्य। ऋत पदार्थ निरन्तर बदलते रहते हैं, इसलिए उन्हें अनित्य कहते हैं। जबकि सत्य पदार्थों का स्वरूप एवं सत्ता में कोई परिवर्तन नहीं होता, अतः उन्हें नित्य कहा जाता है। आकाश, दिक्, काल की भांति आत्मा का स्वरूप एवं सत्ता में किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता, चाहे कितने

हम व्याप्ति ग्रहण करके यह अनुमान वाक्य बनाते हैं कि "यत्र यत्र भास्तमः आदि सत्वम् तत्र तत्र आत्मा असमवायिवत् (अन्वय व्याप्ति)। यत्र यत्र आत्मनः अभावः तत्र तत्र भास्तमः आदि अभावः (व्यतिरेक व्याप्ति)।" इस प्रकार अन्वय और व्यतिरेक से यह निष्कर्ष निकलता है कि आत्मा एक अनुमान सिद्ध द्रव्य है।

युक्ति से आत्मा की सिद्धि—किसी एक जगह बहुत से कारणों के समुदाय से कार्य को उत्पन्न होता देख, उसके अतिरिक्त उत्पन्न हुए किसी स्थल में जिसके कारण का पता नहीं है, कारण की कल्पना कर लेना युक्ति कहलाता है। अगर किसी घर में मिट्टी, चक्र, चक्र चलाने का दण्ड आदि सम्पूर्ण सामग्री पड़ी हुई हो तो क्या कभी घडा बन सकता है? किसी जगह अगर मिट्टी, चूना, पत्थर आदि रख दिये जायें तो क्या घर अपने आप बन सकता है? इन दोनों युक्तियों से सिद्ध होता है कि जड़ उपकरणों की सत्ता होते हुए भी जब तक घटकर्ता कुम्भकार और भवनकर्ता शिल्पी नहीं होगा तब तक घट और भवन का निर्माण नहीं हो सकता। इसी प्रकार यहाँ भी विषय, इन्द्रियाँ, बुद्धि, मन इन सब जड़ करणों के होते हुए भी जब तक चेतन आत्मा नहीं होगा तब तक शरीर का निर्माण नहीं होगा। यदि किसी ने विना कर्ता के घड़ा और विना शिल्पी के मकान बना हुआ देखा हो, तो हम भी विना आत्मा के, केवल मन, बुद्धि, इन्द्रियों आदि से बना शरीर कह सकते हैं।

लक्षणों से आत्मा की सिद्धि—

संसार की समस्त वस्तुयें प्रकृति-प्रसूत होने से जड़ ही होती है, उनमें चेतन तथा ज्ञान ये दोनों ही धर्म नहीं होते हैं जबकि हम चेतन प्राणियों में ज्ञत्व और चेतनत्व दोनों ही धर्म प्राप्त करते हैं जो कि आत्मा के माने गये हैं अतः इन सभी कारणों से आत्मा की सिद्धि होती है।

आत्मा का नित्यत्व—(१) संसार के सभी पदार्थ दो प्रकार के हैं—ऋत और सत्य। ऋत पदार्थ निरन्तर बदलते रहते हैं, इसलिए उन्हें अनित्य कहते हैं। जबकि सत्य पदार्थों का स्वरूप एवं सत्ता में कोई परिवर्तन नहीं होता, अतः उन्हें नित्य कहा जाता है। आकाश, दिक्, काल की भांति आत्मा का स्वरूप एवं सत्ता में किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता, चाहे कितने

ही युग बीत जायें, इसलिए आत्मा को नित्य द्रव्य माना है। (२) "यत् सत् अकारणवच्च तत् नित्यम्" इस लक्षण से जो सत् एवं कारण रहित होता है, उसे नित्य कहते हैं। आत्मा सत्तावान द्रव्य है एवं "प्रभवो न ह्यनादित्वाद्विद्यते परमात्मनः" इत्यादि चरक मतानुसार अकारणवान् है। इसलिए आत्मा नित्य है। जो अकारणवान् है, वह अनादि होता है। इसका विवेचन द्रव्य प्रकरण में पृ. सं. १२४ पर कर आये हैं।

आत्मा का परिमाण—श्रुतियों में आत्मा को "अणोरणीयान् महतो-महीयान्" लिखा है। अर्थात् आत्मा छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा चेतन तत्त्व है। आचार्य चरक "विभुत्वमत एवास्य यस्मात् सर्वगतो महान्" कहकर आत्मा को विभु परिमाण मानते हैं। उनका तात्पर्य यह है कि इस संसार के छोटे से छोटे और बड़े से बड़े जितने भी पदार्थ हैं उन सब में आत्मा की सत्ता है; इसलिए आत्मा सर्व व्यापक है। सुश्रुत आत्मा को परम सूक्ष्म मानते हैं उनका तात्पर्य यह है कि बड़े से बड़े और छोटे से छोटे द्रव्य में रहकर परम सूक्ष्म आत्मा उसको जड़ से चेतन बनाता है। जिस प्रकार एक बड़े कमरे में एक मणि अथवा बल्व प्रकाश कर देता है।

आत्मा की संख्या—(जैसे नैय्यायिक आकाश एवं काल को विभु होने से एक मानते हैं, उसी प्रकार आचार्य चरक भी आत्मा को विभु होने से एक मानते हैं। किन्तु एक ही सूर्य जिस प्रकार अनन्त जल पात्रों में प्रतिबिम्बित होकर अनेक हो जाता है, उसी प्रकार एक ही आत्मा अनेक जीवों में प्रतिबिम्बित होकर अनेक बन जाता है। आचार्य सुश्रुत ने "बहवस्तु पुरुषाः" कह कर आत्मा को असंख्य माना है।)

आत्मा के भेद—जैसे आकाश, काल, दिशा इन तीन द्रव्यों के विभु होने के कारण भेद नहीं हो सकते, अपितु कल्पना करके आकाश के घटाकाश मठाकाश आदि, काल के वर्ष, मास, दिन आदि तथा दिशा के पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण आदि भेद किये जाते हैं, उसी प्रकार विभु आत्मा के भी वस्तुतः कोई भेद नहीं किये जा सकते अपितु कल्पना के आधार पर शास्त्रकारों ने भूतात्मा, जीवात्मा, कर्मात्मा, औपाधिक शरीर, स्पृक् शरीर, लिङ्ग शरीर आदि कुछ भेद प्रस्तुत किये हैं। तत्त्वतः आत्मा अविभाज्य है, अतः उसका कोई विभाजन या भेद नहीं हो सकते।

संख्या – चरक & नैय्यायिक – एक – विभुत्वात्
सुश्रुत – असंख्य – सूक्ष्मत्वात्।

निरात्मवादी बौद्ध मत का खण्डन—बौद्ध धर्म की एक शाखा का विचार है कि सम्पूर्ण शरीर एवं समस्त विश्व क्षण क्षण बदलता रहता है और पूर्व क्षण में होने वाले द्रव्य का लोप हो जाता है और उसके ऊपर द्वितीय क्षण में उसके समान ही दूसरा शरीर व्यवस्थित हो जाता है। इस प्रकार भाव पदार्थों में उत्पत्ति और विनाश की परम्परा चलती रहती हैं। इस उत्पत्ति और विनाश में उत्पन्न और विनष्ट होने वाले पदार्थ एक ही जैसे होते हैं इसलिए आगामी पदार्थों के नवीन होते हुए भी सादृश्य के कारण हम उन्हें पुराने पदार्थ ही मानते रहते हैं। इस प्रकार के उत्पन्न और विनष्ट होने वाले भावों का समुदाय ही चेतन है। इसके लिए किसी भी ईश्वर आदि की मान्यता स्थिर करना ठीक नहीं। बौद्धों के इस निरात्मवादी मत को ध्वस्त करते हुए आचार्य चरक कहते हैं कि यह ठीक है कि सम्पूर्ण शरीर का समुदाय प्रतिक्षण बदलता रहता है परन्तु हमने संसार में यह कभी नहीं देखा कि कर्ता और भोक्ता भिन्न-भिन्न हों। यदि ऐसा हो तो पूर्व क्षण में विद्यमान शरीर द्वारा किये गये कर्मों का उपभोग अन्य शरीर को करना पड़ेगा जो फल विपाकवादी विचारधारा के अनुसार अनुचित है। अतः चेतन आत्मा ही शरीर इन्द्रिय मन विषय आदि में अधिष्ठित होकर कर्म करता है और उन कृत कर्मों के फलों को भोगता है।

देहात्मवादी बौद्धों के मत का खण्डन—बौद्धों के एक पक्ष का मत है कि इस शरीर को ही आत्मा मान लिया जाय और यह स्वाभाविक रूप से अपनी क्रियायें अपने आप करता रहेगा। इसके लिये किसी आत्मा या किसी नियामक परमात्मा, परमेश्वर आदि की कल्पना करना व्यर्थ है। इस पर आचार्य चरक कहते हैं कि यदि सभी शरीरों को एक ही आत्मा मान लें तब उनकी प्रतीति में अहंकार अलग-अलग कैसे होंगे। यदि शरीर को ही आत्मा मान लिया जाय तो किसी भी शरीर के कृत कर्मों का फल किसी भी शरीर को प्राप्त हो जावेगा। किसी भी शरीर के लिए कोई भी शरीर कार्य कर सकता है। देहान्तर गति और पुनर्जन्म जैसे मान्य सिद्धान्तों की सिद्धि किस प्रकार होगी? इन सब शंकाओं के समाधान हेतु देहातिरिक्त आत्मा की सत्ता को स्वीकार करना ही पड़ेगा।

निरात्मवादी बौद्ध मत का खण्डन—बौद्ध धर्म की एक शाखा का विचार है कि सम्पूर्ण शरीर एवं समस्त विश्व क्षण क्षण बदलता रहता है और पूर्व क्षण में होने वाले द्रव्य का लोप हो जाता है और उसके ऊपर द्वितीय क्षण में उसके समान ही दूसरा शरीर व्यवस्थित हो जाता है। इस प्रकार भाव पदार्थों में उत्पत्ति और विनाश की परम्परा चलती रहती हैं। इस उत्पत्ति और विनाश में उत्पन्न और विनष्ट होने वाले पदार्थ एक ही जैसे होते हैं इसलिए आगामी पदार्थों के नवीन होते हुए भी सादृश्य के कारण हम उन्हें पुराने पदार्थ ही मानते रहते हैं। इस प्रकार के उत्पन्न और विनष्ट होने वाले भावों का समुदाय ही चेतन है। इसके लिए किसी भी ईश्वर आदि की मान्यता स्थिर करना ठीक नहीं। बौद्धों के इस निरात्मवादी मत को ध्वस्त करते हुए आचार्य चरक कहते हैं कि यह ठीक है कि सम्पूर्ण शरीर का समुदाय प्रतिक्षण बदलता रहता है परन्तु हमने संसार में यह कभी नहीं देखा कि कर्ता और भोक्ता भिन्न-भिन्न हों। यदि ऐसा हो तो पूर्व क्षण में विद्यमान शरीर द्वारा किये गये कर्मों का उपभोग अन्य शरीर को करना पड़ेगा जो फल विपाकवादी विचारधारा के अनुसार अनुचित है। अतः चेतन आत्मा ही शरीर इन्द्रिय मन विषय आदि में अधिष्ठित होकर कर्म करता है और उन कृत कर्मों के फलों को भोगता है।

देहात्मवादी बौद्धों के मत का खण्डन—बौद्धों के एक पक्ष का मत है कि इस शरीर को ही आत्मा मान लिया जाय और यह स्वाभाविक रूप से अपनी क्रियायें अपने आप करता रहेगा। इसके लिये किसी आत्मा या किसी नियामक परमात्मा, परमेश्वर आदि की कल्पना करना व्यर्थ है। इस पर आचार्य चरक कहते हैं कि यदि सभी शरीरों को एक ही आत्मा मान लें तब उनकी प्रतीति में अहंकार अलग-अलग कैसे होंगे। यदि शरीर को ही आत्मा मान लिया जाय तो किसी भी शरीर के कृत कर्मों का फल किसी भी शरीर को प्राप्त हो जावेगा। किसी भी शरीर के लिए कोई भी शरीर कार्य कर सकता है। देहान्तर गति और पुनर्जन्म जैसे मान्य सिद्धान्तों की सिद्धि किस प्रकार होगी? इन सब शंकाओं के समाधान हेतु देहातिरिक्त आत्मा की सत्ता को स्वीकार करना ही पड़ेगा।

आत्माधीन चैतन्यः—

द्रव्य-गुण विमर्श को ध्यान में रखकर आयुर्वेद में अपने सौकर्य के लिए दो वर्ग किए हैं—(१) लौकिकद्रव्यगुण (२) आध्यात्मिकद्रव्यगुण। आध्यात्मिक द्रव्य गुणों में आचार्य चरक "**मनो मनोऽर्थोबुद्धिरात्मा चेत्यध्यात्म द्रव्यगुणसंग्रहः**" अर्थात् मन और आत्मा ये दोनों आध्यात्म द्रव्य हैं; चिन्त्य, विचार्य, उह्य, ध्येय, संकल्प्य; मनोविज्ञेय इत्यादि मन के गुण, बुद्धि, एवं आत्म गुण ये आध्यात्म गुण कहलाते हैं। इस प्रकार यह सम्पूर्ण आध्यात्मिक द्रव्य-गुण वर्ग होता है। इसी द्रव्य गुण वर्ग के आधीन जीवन की शुभाशुभ प्रवृत्तियां और निवृत्तियाँ होती हैं, क्योंकि आचार्य चरक कहते हैं "**तदर्थात्मसंपदायत्तचेष्टम्, शुभाशुभप्रवृत्तिनिवृत्तिहेतुश्च, द्रव्याश्रितञ्च कर्म, यदुच्यते क्रियेति**"। अर्थात् मन के विषय और आत्मसम्पत् मन के अधीन होते हैं पुनरपि मन जड़ होता है इसलिए वह आत्मा के अधीन होकर ही अपनी सम्पूर्ण क्रियाओं को सम्पन्न व विषयों को ग्रहण करता है। क्योंकि आत्मा और मन दोनों ही द्रव्य हैं और द्रव्य का क्रियावान् और गुणवान् होना आवश्यक है इसलिए आत्मा और मन की क्रियाएं परस्पर पूरक होती हैं। आत्मा मन को चेतना प्रदान करता है और चेतना को प्राप्त मन आत्मा को ज्ञान पहुंचाता है। इस प्रकार दोनों द्रव्य क्रियावान् बन जाते हैं। इसी क्रिया के कारण आयु में शुभ और अशुभ कार्यों में प्रवृत्त होना और निवृत्त होना। जो कुछ भी देखा जाता है वह सब कुछ आत्माधीन चैतन्य से ही संभव है

आत्म सन्निकर्ष से सुख दुःखोद्भव—

क्योंकि स्वयं आत्मा शुद्ध बुद्ध चेतन निष्क्रिय होने के कारण उससे किसी प्रकार की सुख दुःख की उत्पत्ति नहीं होती, किन्तु जब आत्मा से इन्द्रियां, मन और विषय इन सबका सन्निकर्ष (संयोग) हो जाता है तब सुख और दुःख उत्पन्न होते हैं। यदि इन्द्रियों को वश में करके विषयों को प्रारम्भ ही न किया जावे तो अकेला मन कुछ दिन बहिर्मुख रहने के बाद शनैः शनैः अन्तर्मुख होकर आत्मा में स्थिर होने लगेगा और सुख दुःख दोनों ही प्रवृत्तियों के अनुभव लौट चुकेंगे। पुरुष में इन्द्रियों और मन को वश में करने की शक्ति प्राप्त होगी। ऋषिगण कहते हैं, कि यह शरीर धारण करते हुए भी एक

आत्माधीन चैतन्यः—

द्रव्य-गुण विमर्श को ध्यान में रखकर आयुर्वेद में अपने सौकर्य के लिए दो वर्ग किए हैं—(१) लौकिकद्रव्यगुण (२) आध्यात्मिकद्रव्यगुण। आध्यात्मिक द्रव्य गुणों में आचार्य चरक "मनो मनोऽर्थोबुद्धिरात्मा चेत्यध्यात्म-द्रव्यगुणसंग्रहः" अर्थात् मन और आत्मा ये दोनों आध्यात्म द्रव्य हैं; चिन्त्य, विचार्य, उह्य, ध्येय, संकल्प्य; मनोविज्ञेय इत्यादि मन के गुण, बुद्धि, एवं आत्म गुण ये आध्यात्म गुण कहलाते हैं। इस प्रकार यह सम्पूर्ण आध्यात्मिक द्रव्य-गुण वर्ग होता है। इसी द्रव्य गुण वर्ग के आधीन जीवन की शुभाशुभ प्रवृत्तियाँ और निवृत्तियाँ होती हैं, क्योंकि आचार्य चरक कहते हैं "तदर्थात्मसंपदायत्तचेष्टम्, शुभाशुभप्रवृत्तिनिवृत्तिहेतुश्च, द्रव्याश्रितञ्च कर्म, यदुच्यते क्रियेति"। अर्थात् मन के विषय और आत्मसम्पत् मन के अधीन होते है पुनरपि मन जड़ होता है इसलिए वह आत्मा के अधीन होकर ही अपनी सम्पूर्ण क्रियाओं को सम्पन्न व विषयों को ग्रहण करता है। क्योंकि आत्मा और मन दोनों ही द्रव्य है और द्रव्य का क्रियावान् और गुणवान् होना आवश्यक है इसलिए आत्मा और मन की क्रियाएं परस्पर पूरक होती हैं। आत्मा मन को चेतना प्रदान करता है और चेतना को प्राप्त मन आत्मा को ज्ञान पहुंचाता है। इस प्रकार दोनों द्रव्य क्रियावान् बन जाते है। इसी क्रिया के कारण आयु में शुभ और अशुभ कार्यों में प्रवृत्त होना और निवृत्त होना। जो कुछ भी देखा जाता है वह सब कुछ आत्माधीन चैतन्य से ही सभव है

आत्म सन्निकर्ष से सुख दुःखोद्भव—

क्योंकि स्वय आत्मा शुद्ध बुद्ध चेतन निष्क्रिय होने के कारण उससे किसी प्रकार की सुख दुःख की उत्पत्ति नहीं होती, किन्तु जब आत्मा से इन्द्रियां, मन और विषय इन सबका सन्निकर्ष (संयोग) हो जाता है तब सुख और दुःख उत्पन्न होते हैं। यदि इन्द्रियों को वश में करके विषयों को प्रारम्भ ही न किया जावे तो अकेला मन कुछ दिन बहिर्मुख रहने के बाद शनैः शनैः अन्तर्मुख होकर आत्मा में स्थिर होने लगेगा और सुख दुःख दोनों ही प्रवृत्तियों के अनुभव लौट चुकेंगे। पुष्प में इन्द्रियों और मन को वश में करने की शक्ति प्राप्त होगी। ऋषिगण कहते हैं, कि यह शरीर धारण करते हुए भी एक

प्रकार का योग है जिससे सम्पूर्ण प्रकार के भोगों पर विजय पाई जा सकती है। सुख दुःखों में आत्मा स्वयं कारण नहीं, पूर्व सन्दर्भ में आत्मादि के सन्निकर्ष से सुख दुःखों की उत्पत्ति के प्रति आत्मा को चेतन होने के कारण प्रधान कारण माना है और उसकी निवृत्ति के लिए छोटी सी योग की प्रक्रिया बतलाई है। सुख दुःखादि के प्रति आत्मा को कारण मानना कहां तक सत्य है, इसके विचार में आचार्य चरक कहते हैं—

> **"सर्वं कारणवद्दुःखमस्वं चानित्यमेव च।**
> **नचात्मकृतकं तद्धि तत्र चोत्पद्यते स्वता॥**
> **यावन्नोत्पद्यते सत्या बुद्धिर्नैतदहं यया।**
> **नैतन्ममेति विज्ञाय ज्ञः सर्वमतिवर्तते॥" —चरक**

उत्पत्ति कारण से होती है और जो कारण से उत्पन्न होता है वह परिणामी होता है, नाशवान् होता है। प्रकृति से अहंकार, इन्द्रियाँ और सम्पूर्ण तत्त्वजात जो कुछ भी उत्पन्न हुआ वह कारणवान् है। इसलिए नाश होने से वह दुःख उत्पन्न करने वाला है किन्तु ऐसा समुदाय जो कारण वाला हो दुःख उत्पन्न करने वाला हो वह कभी उत्पन्न न होने वाले नित्य पदार्थ आत्मा की सम्पत्ति नहीं बन सकता। क्योंकि दुःख अनित्य होता है और आत्मा नित्य दोनों में जब वैषम्य हो, तो समानता में चलने वाले मैत्री और व्यवहार विषमता में किस प्रकार स्थिर हो सकते हैं। इस प्रकार यद्यपि कारणवत् सम्पत्ति से उत्पन्न दुःखों में आत्मा बिल्कुल ही कर्ता नहीं होता क्योंकि निरन्तर परिणामी होने से उनका नाश तो अपने आप ही हुआ करता है। ऐसी स्थिति में जब तक सत्य ज्ञान उत्पन्न नहीं होता तब तक ऐसे उत्पन्न होने वाले दुःखों के प्रति आत्मा की कारणता मानते रहते हैं, और जब ज्ञान उत्पन्न हो जाता है तब "मैं स्वयं नित्य हूं और इन नाशवान् पदार्थों से मेरा सम्बन्ध ही क्या"। इस प्रकार के दुःखों के प्रति आत्मा कारण नहीं हो सकता।

आत्मा की उपयोगिता—

"या या संज्ञा सा सा प्रयोजनवती" संसार में जितनी नामधारी वस्तुएँ

है उनका जीव जगत् के लिए कोई न कोई प्रयोजन अवश्य होता है। आत्मा की सत्ता स्वीकार करने, उसको अनुमान, युक्ति, आदि प्रमाण समुच्चय से सिद्ध करने आदि का प्रयोजन क्या है ? यह विचारणीय हो जाता है। क्योंकि शास्त्रकारों का मत है कि "प्रयोजनं विहाय कार्येषु मन्दोऽपि न प्रवर्तते" इस विषय में आचार्य चरक ने विस्तृत प्रकाश डाला हैं—

१ "सत्त्वमात्मा शरीरं च त्रयमेतत्त्रिदण्डवत् ।
लोकस्तिष्ठति संयोगात् तत्रसर्वंप्रतिष्ठितम् ।।" —चरक

जब किसी भवन की रचना की जाती है तब उसमें तीन-दण्ड तीन-स्थूण, तीन-स्तम्भ लगाये जाते हैं। "लोकः" "लोक्यते दृश्यते इति" इस व्युत्पत्ति से लोक दिखाई देने वाला एक चेतन विश्व इस अर्थ में लोक शब्द का आचार्य ने प्रयोग किया है। यह लोक (चेतन विश्व) सत्त्व, आत्मा और शरीर इन तीनों दण्डों पर ठहरा हुआ है। प्रत्येक मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष उस चेतन विश्व या लोक की सजीव इकाई है। इसको ही आचार्य ने एक छोटे से पद्य में स्पष्ट किया हैं कि तत्र—इस चेतन विश्व में अस्मदादि सम्पूर्ण चेतन इकाइयाँ प्रतिष्ठित हैं, ईंट की तरह लगी हुई हैं। चेतन विश्व की ये ईंटे बड़े विचित्र ढंग से बनी हुई हैं। इनमें दो ऋण—धन (नेगेटिव—पोजिटिव) परस्पर विरोधी जड़ चेतन—मन और आत्मा एक प्रकार के शाक्त द्रव्य हैं जिनके ऊपर एक चर्म हाड मांस का आवरण लगा हुआ है। इस आवरण मंजूषा में बन्द हुए सत्त्व-आत्मा दोनों इसे चेतन बनाते हैं। यह सचेतन मंजूषा एक ईंट का आकार ले सचेतन विश्व की इकाई बनी हुई है। इस प्रकार इस लोक (सचेतन विश्व) के निर्माण में आत्मा एक सक्रिय स्तम्भ है।

२ "शरीरेन्द्रियसत्त्वात्म संयोगो धारि जीवितम् ।
नित्यगश्चानुबन्धश्च पर्यायैरायुरुच्यते ।।" —चरक

पूर्व सन्दर्भ में शरीर सत्त्व आत्मा का संयोग एक सचेतन इकाई के रूप में उज्जृम्भित हुआ है। वह सचेतन इकाई उस समाधिस्थ योगी की अनुकारिणी है जिसमें चेतन्य तो है परन्तु इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर लेने से लौकिक ज्ञान कर्म का उन्मेष नहीं होता। सचेतन विश्व (लोक) में ऐसी स्थूल